

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गै जयतः

श्रीमद्भगवद्गीता

(हिन्दी श्लोकानुवाद)

श्रील गुरुदेव
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
युगाचार्य

प्रथमोऽध्याय

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥१॥

धृतराष्ट्रने कहा—हे संजय! धर्मभूमिस्वरूप कुरुक्षेत्रमें मेरे पुत्रों तथा पाण्डुपुत्रोंने युद्धकी इच्छासे एकत्रित होनेके पश्चात् क्या किया?॥१॥

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।

आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥२॥

सञ्जयने कहा—महाराज! पाण्डवोंकी सेनाको व्यूहाकारमें अवस्थित देखकर दुर्योधनने द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥३॥

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकारमें स्थापित पाण्डवोंकी इस विशाल सेनाका अवलोकन करें॥ ३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥४॥

इस सेनामें महाधनुर्धारी अर्जुन और भीम एवं उनके समान ही शूरवीर सात्यकि, विराटनरेश तथा महारथी द्रुपदादि हैं॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥६॥

इस युद्धमें धृष्टकेतु, चेकितान, वीर काशिराज, पुरुजित्, कुन्तीभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, परम पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु, द्रौपदीके पुत्र प्रतिबिन्ध्य आदि महारथी हैं॥५-६॥

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥७॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! आपकी सूचनाके लिए मैं अपनी सेनाके उन सेनानायकोंका नाम उल्लेख कर रहा हूँ, जो कि सैन्य संचालनमें विशेषरूपसे कुशल हैं॥७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिज्जयः।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः॥८॥

आप स्वयं (द्रोणाचार्य) पितामह भीष्म, कर्ण, समरविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा, सिन्धुराज एवं जयद्रथादि शूरवीर मेरे पक्षमें हैं॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥९॥

मेरे लिए प्राणोत्सर्ग करनेके लिए तत्पर नाना अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित और भी अनेक वीर हैं, जो युद्धमें निपुण हैं॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

भीष्मके द्वारा रक्षित हमारा सैन्यबल अपर्याप्त है, किन्तु दूसरी ओर भीमके द्वारा संरक्षित पाण्डवोंका सैन्यबल पर्याप्त है॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

अतएव सभी प्रवेश द्वारोंपर अपने अपने निर्दिष्ट स्थानोंपर स्थित होकर आपलोग पितामह भीष्मकी ही सब प्रकारसे रक्षा करें॥११॥

तस्य सज्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

इसके बाद बड़े प्रतापी कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मने दुर्योधनके हृदयमें आनन्द उत्पादन करते हुए सिंहकी भाँति गर्जनकर उच्च स्वरसे शङ्खनाद किया॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥

अनन्तर शङ्ख, नगाड़े, ढोल, मृदङ्ग और रणशिंगादि अनेक प्रकारके वाद्ययन्त्र अचानक ही एक साथ बज उठे जिससे अति भयङ्कर ध्वनि हुई॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥

इसके बाद श्वेत घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा धनञ्जयने दिव्य शङ्ख ध्वनि की॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥

हृषिकेश श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयङ्कर कार्योंको करनेवाले भीमने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१६॥

कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥१८॥

हे धरणीपते धृतराष्ट्र! महाधनुर्धारी काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अपराजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पुत्रों तथा सुभद्रानन्दन अभिमन्यु—इन सभीने अपना अपना शङ्ख बजाया॥१७-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।

नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥१९॥

उस भयंकर शब्दने आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते॥२०॥

हे राजन्! उसके बाद आपके पुत्रोंको युद्धके लिए व्यवस्थित देखकर बाण फेंकनेको उद्यत कपिध्वज अर्जुनने अपना धनुष उठाकर श्रीकृष्णसे यह वचन कहा॥२०॥

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥

अर्जुनने कहा—हे अच्युत! मैं जब तक युद्धकी अभिलाषासे खड़े हुए इन समस्त वीरोंको अच्छी तरह देख न लूँ, इस युद्धमें किन लोगोंके साथ मुझे युद्ध करना होगा तथा इस युद्धमें दुर्बुद्धि परायण धृतराष्ट्र-पुत्रोंका कल्याण चाहनेवाले एकत्रित योद्धाओंका निरीक्षण न कर लूँ, तब तक आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करें॥२१-२३॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति॥२५॥

संजयने कहा—हे भारत! गुडाकेश अर्जुनके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर श्रीकृष्णने दोनों पक्षोंकी सेनाओंके बीच समस्त राजाओं तथा भीष्म, द्रोणादि विशिष्ट व्यक्तियोंके सामने उत्तम रथको स्थापित किया। श्रीकृष्णने कहा—हे पार्थ! इन एकत्रित कौरवोंको देखो॥२४-२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन् पुत्रान्यौत्रान्सखींस्तथा।

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥२६॥

उसके बाद अर्जुनने दोनों सेनाओंमें उपस्थित अपने पिताके भाइयों, पितामहों, आचार्यों, मामा, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, सखा, श्वसुरों तथा सुहृदोंको देखा॥२६॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥२७॥

युद्धभूमिमें उपस्थित अपने समस्त बन्धु-बान्धवोंको देखकर अत्यन्त करुणायुक्त होकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने यह कहा॥२७॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति॥२८॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! युद्धकी आकांक्षासे एकत्रित इन स्वजनको देखकर मेरे अङ्गसमूह शिथिल हो रहे हैं तथा मुख भी सूख रहा है॥ २८॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।

गाण्डीवं संसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥२९॥

मेरे शरीरमें कम्प और रोमाञ्च हो रहा है। हाथसे गाण्डीव स्खलित हो रहा है और त्वचा भी जल रही है॥२९॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥३०॥

हे केशव! मैं अब खड़े रहनेमें असमर्थ हूँ। मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। मैं केवल विपरीत (अशुभ) लक्षणोंको ही देख रहा हूँ॥३०॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥३१॥

हे कृष्ण! युद्धमें स्वजनकी हत्याकर कोई मङ्गल भी नहीं देखता हूँ। मैं युद्धमें विजय, राज्य तथा सुखोंको भी नहीं चाहता हूँ॥३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥३२॥

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥३३॥

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥३४॥

हे गोविन्द! हमें राज्य, भोग तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है? जिनके लिए राज्य और सुखभोग इच्छित हैं, वे सभी अर्थात् आचार्य, पितृव्य, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धिगण प्राण और धन देनेके लिए तत्पर होकर मेरे समक्ष खड़े हैं। अतः हे मधुसूदन! यदि ये लोग मेरा वध भी कर डालें, तथापि मैं इनकी हत्या करना नहीं चाहता॥३२-३४॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥३५॥

हे जनार्दन! इस पृथ्वीके लिए तो कहना ही क्या, तीनों लोकोंके

राजत्वके लिए भी धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वध करनेसे हमें क्या सुख प्राप्त होगा? ॥३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३६॥

हे माधव! इन सभी आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा, इसलिए बान्धवोंसहित दुर्योधनका वध करना हमारे लिए उचित नहीं है। क्योंकि, स्वजनकी हत्या करनेसे हम किस प्रकार सुखी होंगे? ॥३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३७॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३८॥

हे जनार्दन! राज्यके लोभसे भ्रष्टबुद्धि होकर दुर्योधनादि वंशनाशसे उत्पन्न दोष तथा मित्रद्रोहसे उत्पन्न पापको नहीं देख रहे हैं। परन्तु, इसे जाननेवाले हम लोगोंको इन दोषोंसे निवृत्त होनेके लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए? ॥३७-३८॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।

धर्मं नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥३९॥

वंशनाशसे वंशपरम्परा द्वारा प्राप्त धर्मसमूह नष्ट हो जाते हैं। धर्मके नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुलको अधर्म दबा लेता है ॥३९॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।

स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्यं जायते वर्णसङ्करः॥४०॥

हे कृष्ण! अधर्मके द्वारा कुलके अभिभूत होनेपर कुलकी स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं। हे वृष्णिवंशी! स्त्रियोंके भ्रष्ट होनेसे वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होती है ॥४०॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४१॥

वर्णसङ्कर कुलघातियोंको तथा कुलको नरकमें ले जाता है। इनके पितृगण भी जलहीन तथा पिण्डहीन होकर निश्चय ही पतित हो जाते हैं ॥४१॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥

कुलघातियोंके इन सभी दोषोंके द्वारा सनातन जातिधर्म तथा कुलधर्म विलुप्त हो जाते हैं ॥४२॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।

नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

हे जनार्दन! मैंने ऐसा सुना है कि कुलधर्मविहीन लोगोंको अनन्त काल तक नरकभोग करना पड़ता है ॥४३॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥

हाय! कितने खेदकी बात है कि हम लोग राज्यसुखके लोभसे स्वजनकी हत्याके लिए उद्यत हैं तथा यह महापाप करनेको कृतसङ्कल्प हैं ॥४४॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

यदि अस्त्रविहीन तथा आत्मरक्षाके लिए चेष्टारहित मुझको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्रगण युद्धमें मार भी डालें, तो भी यह मेरे लिए हितकर ही होगा ॥४५॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

सञ्जयने कहा—शोकसे उद्विग्नमनवाले अर्जुनने युद्धभूमिमें ऐसा कहकर बाणसहित धनुषका परित्याग कर दिया तथा वे रथमें बैठ गए ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'सैन्यदर्शनं' नाम प्रथमोऽध्यायः।

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥१॥

संजयने कहा—उस प्रकार करुणासे अभिभूत, अश्रुपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले, विषादयुक्त अर्जुनको श्रीभगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! किस हेतु तुम्हें इस भीषण विपदकालमें अनार्योंके द्वारा आचरित, स्वर्ग तथा कीर्तिको नहीं देनेवाला यह मोह उपस्थित हुआ?॥२॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥३॥

हे पार्थ! तुम इस प्रकार नपुंसकताको मत प्राप्त होओ। तुम्हें यह शोभा नहीं देता है। हे परन्तप! तुम इस क्षुद्र हृदयकी दुर्बलताका परित्याग करते हुए युद्धके लिए खड़े होओ॥३॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

अर्जुनने कहा—हे शत्रुदमनकारी मधुसूदन! मैं किस प्रकार इस युद्धमें पूजनीय भीष्म पितामह एवं द्रोणाचार्यके विरुद्ध बाणोंके द्वारा युद्ध करूँगा?॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

महानुभाव गुरुजनको न मारकर इस संसारमें भिक्षान्नके द्वारा भी जीवन-यापन करना कल्याणकारी है। किन्तु गुरुजनकी हत्या करनेसे

इस लोकमें ही रक्तरिजित अर्थ और कामरूप भोगोंको भोगना होगा ॥
५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

हमलोगोंके लिए युद्धमें जीतने या पराजित होनेमें क्या श्रेष्ठ है—मैं इसे नहीं समझ पा रहा हूँ। क्योंकि, जिनकी हत्याकर हम जीवित भी नहीं रहना चाहते हैं, वे धृतराष्ट्रके पक्षवाले युद्धके लिए सामने खड़े हैं ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

स्वाभाविक शौर्यधर्मका परित्यागकर कायरतारूप धर्मसे अभिभूत, धर्मके निरूपणमें मोहित चित्तवाला मैं आपको पूछता हूँ—मेरे लिए जो मङ्गलकारी है, वह निश्चयकर आप कहें। मैं आपका शिष्य हूँ। अतः मुझ शरणागतको आप शिक्षा प्रदान करें ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पृथ्वीके निष्कण्टक और समृद्ध राज्य एवं देवताओंके आधिपत्यको पाकर भी मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ, जो इन्द्रियोंको सुखानेवाले इस शोकको दूर कर सके ॥८॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजयने कहा—इस प्रकार कहनेके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाला अर्जुन श्रीकृष्णसे यह कहकर चुप हो गया कि हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! उस समय दोनों सेनाओंके बीचमें शोकातुर अर्जुनसे श्रीकृष्णने मानो हँसते हुए यह वचन कहा ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

श्रीभगवान्ने कहा—तुम नहीं शोचने योग्य वस्तुओं (व्यक्तियों) के लिए शोक कर रहे हो, पुनः पाण्डित्यपूर्ण वचन भी कह रहे हो। किन्तु, पण्डितगण न तो प्राणहीन और न ही प्राणवानोंके लिए शोक करते हैं॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

ऐसा किसी कालमें नहीं हुआ कि मैं (कृष्ण) नहीं था, तुम (अर्जुन) नहीं थे और ये सभी राजा लोग नहीं थे और न ही भविष्यमें ऐसा कभी होगा कि हमलोग नहीं रहेंगे॥१२॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

जिस प्रकार शरीरधारी जीवात्मा इस स्थूल शरीरमें क्रमशः कुमारावस्था, यौवनावस्था तथा वृद्धावस्था प्राप्त करता है, उसी प्रकार मृत्योपरान्त जीवात्माको अन्य शरीर प्राप्त होता है। धीर व्यक्ति इस विषयमें अर्थात् शरीरके नाश एवं उत्पत्तिके कारण मोहित नहीं होते हैं॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंकी वृत्तिके साथ विषयोंके संयोगसे सर्दी, गर्मी, सुख तथा दुःख प्राप्त होते हैं। वे क्षणभंगुर एवं अनित्य होते हैं। अतः हे भारत! तुम उनको सहन करो॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

हे पुरुषोत्तम! जो धीर व्यक्ति मात्रा-स्पर्श, सुख एवं दुःखादिको समान समझते हैं और इनके द्वारा विचलित नहीं होते हैं, वे निश्चय ही मुक्ति प्राप्त करनेके योग्य होते हैं॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्व-दर्शिभिः॥१६॥

असत् वस्तु (शीत-उष्णादि) की तो सत्ता नहीं है और नित्य वस्तु (आत्मा) का विनाश नहीं है। तत्त्वदर्शी लोगोंने सत् और असत् वस्तुकी आलोचना कर ऐसा निष्कर्ष निकाला है॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥१७॥

किन्तु, जो इस सारे शरीरमें व्याप्त है, उसे ही तुम अविनाशी जानो। कोई भी उस अविनाशी (आत्मा) का विनाश करनेमें समर्थ नहीं है॥ १७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

नित्य, अविनाशी और अपरिमेय जीवात्माके ये सब भौतिक शरीर नाशवान कहे गए हैं। अतः हे अर्जुन! तुम युद्ध करो॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

जो व्यक्ति इस जीवात्माको वध करनेवाला तथा वध होनेवाला समझते हैं—वे दोनों ही अज्ञ हैं, क्योंकि जीवात्मा न तो किसी की हत्या करता है और न ही किसीके द्वारा हत होता है॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं

भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

यह जीवात्मा कभी भी न तो जन्म लेता है और न ही कभी मरता है अथवा पुनः पुनः इसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और प्राचीन होनेपर भी नित्य नवीन है। शरीरके नष्ट होनेपर भी जीवात्माका विनाश नहीं होता है॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

हे पार्थ! जो व्यक्ति आत्माको नित्य, अजन्मा, अव्यय और अविनाशी जानते हैं, वे किस प्रकार किसीकी हत्या करवाते या हत्या करते हैं?॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये

शरीरोंको धारण करता हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

इस जीवात्माको न शस्त्रोंके द्वारा छेदा जा सकता हैं, न आगके द्वारा जलाया जा सकता है और न ही जलके द्वारा भिगोया जा सकता है और न ही वायुके द्वारा सुखाया जा सकता है॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयम् उच्यते।

तस्माद् एवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

यह जीवात्मा अविभाज्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, स्थायी, अचल एवं सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकारी भी कहलाता है। जन्मादि षड्विकार रहित होनेके कारण इसे अविकारी भी कहा जाता है। अतः जीवात्माको इस प्रकारसे जाननेके बाद तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है॥२४-२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

हे महाबाहो! और भी, यदि तुम जीवात्माको नित्य जन्म लेनेवाला और नित्य मरनेवाला मानते हो, तथापि तुम्हारा इस प्रकार शोक करनेका कोई कारण नहीं है॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२७॥

क्योंकि, जिसने जन्म ग्रहण किया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत व्यक्तिका जन्म भी निश्चित है। अतः इस अपरिहार्य (अवश्यम्भावी) विषयमें तुम्हारा शोक करना उचित नहीं॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२८॥

हे भारत! सभी जीव जन्मसे पूर्व अव्यक्त रहते हैं, जन्मके बाद मध्यावस्थामें व्यक्त होते हैं और मृत्युके बाद पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। अतः इस विषयमें शोकका क्या कारण है?॥२८॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

कोई जीवात्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, कोई इसे आश्चर्यकी भाँति बोलता है, कोई इसे आश्चर्यकी तरह सुनता है, किन्तु कोई कोई सुनकर भी इसे नहीं जान पाता है॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे अर्जुन! शरीरधारी यह आत्मा सभी शरीरोंमें नित्य अवध्य रूपमें अवस्थित है, अतः जीवात्माके लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥

दूसरी ओर स्वधर्मका विचार करनेपर भी तुम्हारा विचलित होना उचित नहीं हैं, क्योंकि धर्मके लिए युद्ध करनेकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए अन्य कुछ भी मङ्गलप्रद कार्य नहीं है॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

हे पार्थ! भाग्यवान् क्षत्रियगण ही स्वर्गके खुले द्वारके समान ऐसे युद्धके अवसरको अनायास प्राप्त करते हैं॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

दूसरी ओर यदि तुम यह धर्मयुद्ध नहीं करोगे, तो स्वधर्म एवं कीर्तिको खोकर पापका अर्जन करोगे॥३३॥

अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥३४॥

सभी लोग सदैव तुम्हारी अक्षय अकीर्तिकी चर्चा करेंगे। सम्मानित व्यक्तिके लिए अपयश तो मरनेकी अपेक्षा भी अधिक कष्टदायक है॥ ३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

दुर्योधनादि महारथी तुम्हें भययुक्त होकर युद्धसे पलायन करनेवाला समझेंगे। अतः जिनके निकट तुम इतने दिनोंतक बहुसम्मानित हुए हो,

वे ही तुम्हें तुच्छ समझेंगे॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

तुम्हारे शत्रुलोग तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए अनेक न कहने योग्य बातोंको कहेंगे। हे अर्जुन! इससे अधिक दुःखका विषय और क्या हो सकता है?॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

हे कुन्तीनन्दन! युद्धमें मारे जानेपर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे या जीतनेपर पृथ्वीका भोग करोगे। अतः कृतसङ्कल्प होकर युद्धके लिए खड़े हो जाओ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजयको समान जानते हुए तुम युद्धके लिए तत्पर होओ। इस प्रकार तुम्हें पाप नहीं लगेगा॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

बुध्द्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥

हे पार्थ! अब तक मैंने तुम्हें सांख्ययोगकी बातें कहीं, किन्तु अब तुम्हें भक्तियोगसे सम्बन्धित ज्ञान दे रहा हूँ, जिस बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करनेपर तुम संसारसे मुक्त हो जाओगे॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

इस भक्तियोगमें किया गया प्रयास न तो विफल होता है और न ही इससे कोई दोष होता है। इस अनुष्ठान (धर्म) का थोड़ा-सा भी पालन संसाररूप महान भयसे मुक्त कर देता है॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

हे कुरुनन्दन! इस भक्तिमार्गमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वह एकनिष्ठा होती है, किन्तु भक्तिबहिर्मुख व्यक्तियोंकी बुद्धियाँ अनन्त और अनेक शाखाओंवाली होती हैं॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

जो मूर्ख वेदके अर्थवादमें रत हैं, वे वेदोंमें वर्णित आपात मनोरम परन्तु परिणाममें विषमय अलङ्कारी वाक्योंको ही वेदवाक्य कहते हैं। वे स्वर्गादि फलोंके अतिरिक्त अन्य ईश्वरतत्त्वको नहीं मानते हैं ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

अतः कामके द्वारा कलुषित चित्तवाले वे स्वर्गप्रार्थी सकाम पुरुष भोग एवं ऐश्वर्यकी प्राप्तिके साधनस्वरूप जन्म तथा कर्ममें बाँधनेवाली विविध क्रियाओंको ही प्रकृष्ट वेदवाक्य कहते हैं ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

उन मधुपुष्पित वाक्योंके द्वारा जिनका चित्त हर लिया जाता है, भोग तथा ऐश्वर्यमें आसक्त वैसे व्यक्तियोंकी समाधिमें अर्थात् भगवान्‌में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन! तुम वेदोंमें वर्णित तीनों गुणोंका परित्यागकर निर्गुण (त्रिगुणातीत) तत्त्वमें प्रतिष्ठित होओ। तुम समस्त द्वन्द्वों (मान-अपमानादि) से रहित होकर योग-क्षेमकी चिन्ता न करते हुए मेरे द्वारा प्रदत्त बुद्धियोगके द्वारा शुद्धसत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाओ ॥४५॥

यावानर्थं उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जिस प्रकार एक छोटे जलाशयके द्वारा जितना प्रयोजन सिद्ध होता है, उतना प्रयोजन एक बड़े जलाशयके द्वारा अनायास ही सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार वेदोंमें वर्णित विभिन्न देवताओंकी पूजासे जो भी फल प्राप्त होते हैं, वे सभी फल वेद-तात्पर्यविद् भक्तियुक्त ब्राह्मणोंको भगवत्-उपासनाके द्वारा अनायास ही प्राप्त होते हैं ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

स्वधर्मविहित कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, किन्तु उस कर्मके फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। तुम स्वयंको न तो कर्मके फलका

कारण मानो और न ही कभी कर्मके नहीं करनेमें आसक्त होओ ॥
४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्ध्यासिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनञ्जय ! कर्मफलकी सफलता तथा असफलता (जय तथा पराजय) एवं कर्ममें आसक्तिका त्यागकर भक्तियोगसे युक्त होकर समभावसे स्वधर्मविहित कर्म करो। क्योंकि ऐसा समत्वभाव ही योग कहलाता है ॥
४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनञ्जय ! क्योंकि काम्य कर्म भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगसे अत्यन्त ही निकृष्ट है, अतः तुम निष्काम कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करो। फलकी कामनावाले कृपण होते हैं ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियोगसे युक्त व्यक्ति इस जन्ममें ही सुकृत और दुष्कृत—दोनोंका परित्याग करते हैं। अतः तुम निष्काम कर्मयोगके लिए चेष्टा करो। समभावके साथ बुद्धियोगके आश्रयमें कर्म करना ही कर्मयोगका कौशल है ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

बुद्धियोगसे युक्त पण्डितगण कर्मजनित फलको त्यागकर जन्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और अनामय पदको प्राप्त करते हैं ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप सघन वनको पार कर जाएगी, तब तुम सुनने योग्य और सुने हुए विषयोंके प्रति वैराग्य प्राप्त करोगे ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

जब तुम्हारी बुद्धि नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक अर्थोंको सुननेसे विरक्त हो जाएगी एवं अन्य आसक्तिसे रहित होकर परमेश्वरमें स्थिर

हो जाएगी, तब तुम योगफल लाभ करोगे ॥५३॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुनने कहा—हे केशव! समाधिमें स्थित स्थिर बुद्धिवाले व्यक्तिके क्या लक्षण हैं? वे किस प्रकार बोलते हैं, किस प्रकार बैठते हैं एवं किस प्रकार चलते हैं? ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! जब जीव मनकी समस्त कामनाओंका परित्याग कर देता है और निग्रह किए हुए मनमें ही आनन्दस्वरूप आत्माके द्वारा तुष्ट होता है, तब वे स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

जो आध्यात्मिकादि तीनों तापोंके उपस्थित होनेपर उद्विग्न नहीं होते हैं, सुख प्राप्त करनेपर सुखमें स्पृहाहीन रहते हैं; राग, भय तथा क्रोधसे रहित ऐसे मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेहरहित होते हैं और अनुकूलकी प्राप्तिसे न तो प्रसन्न होते हैं और न ही प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर उससे द्वेष करते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जिस प्रकार अपने अङ्गोंको इच्छानुसार अपने कवचके अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार जब ये मुनि भी अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे खींच लेते हैं, तब वे स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको नहीं ग्रहण करनेवाले देहाभिमानी व्यक्तिके

विषयसमूह तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु विषयोंके प्रति उसका जो राग है, वह निवृत्त नहीं होता है। दूसरी ओर परमात्माके दर्शनसे स्थितप्रज्ञ व्यक्तिका विषयोंके प्रति जो राग है, उसकी भी निवृत्ति हो जाती है॥ ५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

हे अर्जुन! क्योंकि क्षोभ उत्पन्न कर देनेवाली ये इन्द्रियाँ मोक्षके लिए यत्नशील विवेकी पुरुषका भी मन बलपूर्वक हर लेती हैं॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

इसलिए मेरे परायण भक्तियोगी होकर इन्द्रियोंको संयमितकर मेरे आश्रित होकर अवस्थान करे। क्योंकि, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उनकी ही बुद्धि स्थिर है अर्थात् वे ही स्थितप्रज्ञ हैं॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥६२॥

शब्दादि विषयोंका निरन्तर चिन्तन करनेसे उन उन विषयोंमें चिन्तनकारी पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्तिसे काम एवं कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥६३॥

क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिका नाश (अर्थात् शास्त्रके उपदेशोंको भूल जानाद्ब, स्मृतिनाश होनेसे बुद्धिका नाश और बुद्धिनाश होनेसे सर्वनाश होता है अर्थात् वह पुनः भवसागरमें पतित हो जाता है॥६३॥

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

किन्तु, संयमित पुरुष राग-द्वेषसे रहित होकर अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विषयोंको भोगनेपर भी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उन विधेयात्मा पुरुषके सभी दुःख दूर हो जाते

हैं और उन प्रसन्नचित्त व्यक्तिकी बुद्धि शीघ्र ही सर्वतोभावेन अभीष्ट-प्राप्तिमें स्थिर हो जाती है॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

अवशीभूत मनवाले पुरुषकी आत्मविषयिणी बुद्धि नहीं होती है। वैसे बुद्धिहीन पुरुषको परमेश्वरका ध्यान नहीं होता है तथा ध्यानरहित व्यक्तिको शान्ति नहीं मिलती है। अशान्त पुरुषको भला सुख कहाँ है?॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिवाभसि॥६७॥

जिस प्रकार वायु जलमें स्थित नावको हर लेती है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय व्यक्तिका मन विषयोंमें विचरण करनेवाली जिस किसी इन्द्रियके प्रति अनुधावित होता है, वह उसी इन्द्रियके अनुवर्त्ती होकर उसकी बुद्धिको हर लेता है॥६७॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

अतएव हे महाबाहो! जिनकी इन्द्रियाँ इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे सभी प्रकारसे निगृहीत हैं, उनकी बुद्धि स्थिर है अर्थात् वे स्थितप्रज्ञ हैं॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

जो आत्मविषयिणी बुद्धि जड़मुग्ध सर्वसाधारण जीवोंके लिए रात्रिके समान है, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति उसमें जाग्रत रहते हैं। और, जिस विषय-प्रवणा बुद्धिमें साधारण जीव जाग्रत रहते हैं, तत्त्वदर्शी मुनिके लिए वही रात्रिके समान है अर्थात् वे निर्लिप्तभावसे यथायोग्य विषय स्वीकार करते हैं॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

जिस प्रकार अनेक नदियोंका जल परिपूर्ण और अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें बिना कोई क्षोभ उत्पन्न किए हुए प्रवेश करता है, उसी प्रकार सभी कामनाएँ स्थितप्रज्ञ पुरुषमें बिना कोई विकार पैदा किए हुए ही प्रविष्ट हो जाती हैं, वे (स्थितप्रज्ञ) ही शान्ति प्राप्त करते हैं,

द्वितीयोऽध्यायः

न कि अपनी कामनाओंको पूर्ण करनेके इच्छुक व्यक्ति ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष सभी कामनाओंका परित्याग करते हुए स्पृहाशून्य, अहङ्काररहित और ममताशून्य होकर विचरण करते हैं, वे शान्ति प्राप्त करते हैं ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ! इस प्रकार ब्रह्मप्राप्तिकी स्थितिको ब्राह्मी कहा जाता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेपर कोई भी मोहित नहीं होता है। मृत्युकालमें क्षणमात्र भी इसमें स्थित होनेपर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'सांख्ययोगो' नाम द्वितीयोऽध्यायः।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन! यदि आपको गुणातीता भक्ति-विषयिणी बुद्धि कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ मान्य है, तो हे केशव! आप मुझे इस घोर युद्धरूप कर्ममें क्यों नियोजित कर रहे हैं?॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥२॥

आपके नाना अर्थबोधक वाक्योंसे मेरी बुद्धि मोहित-सी हो रही है। अतः आप उस एक बातको निश्चयपूर्वक बतावें जिससे कि मेरा कल्याण हो॥२॥

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया नघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे निष्ठाप अर्जुन! मैंने पहले ही प्रकृष्ट रूपसे बताया है कि इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा (नित्य स्थिति) होती है—सांख्यवादी ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोग द्वारा तथा योगियोंकी निष्ठा कर्मयोग द्वारा होती है॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥

शास्त्रीय कर्मोंके अनुष्ठानोंको नहीं करनेसे पुरुष नैष्कर्म्यरूप ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है एवं केवल कर्मोंके त्यागसे भी अशुद्धचित्तवाला पुरुष सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥

कोई पुरुष किसी कालमें एक क्षणके लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है। सभी पुरुष स्वभावसे उत्पन्न राग-द्वेषादि गुणोंके अधीन

होकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढ़ व्यक्ति अपने कर्मेन्द्रियोंको संयमितकर (हठपूर्वक रोककर) मन-ही-मन इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

हे अर्जुन! किन्तु जो व्यक्ति मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशीभूतकर फलकी कामनासे रहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते हैं, वें श्रेष्ठ हैं ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥८॥

तुम सन्ध्या-उपासनादि नित्य कर्म करो, क्योंकि कोई कर्म नहीं करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कोई कर्म न करनेसे तो तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा ॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

हे कुन्तीनन्दन! श्रीविष्णुके लिए अर्पित निष्काम कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंके द्वारा मनुष्यको कर्मबन्धन प्राप्त होता है। अतः तुम फलाकांक्षारहित होकर भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे कर्मका भलीभाँति आचरण करो ॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

आदिकालमें (सृष्टिके प्रारम्भमें) यज्ञाधिकारी ब्राह्मणोंकी सृष्टिकर प्रजापति ब्रह्माने कहा—तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंकी अभीष्ट कामनाओंको पूर्ण करनेवाला होवे ॥१०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इस यज्ञके द्वारा तुमलोग देवताओंका प्रीति-विधान करो और देवतागण फल प्रदानकर तुमलोगोंको प्रसन्न करें। इस प्रकार एक दूसरेको प्रसन्न

करते हुए परम कल्याण प्राप्त करोगे॥११॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैर्दत्तान् प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

देवतागण प्रसन्न होकर तुम लोगों के अभीष्ट भोगों को प्रदान करेंगे। अतः जो व्यक्ति देवताओं के द्वारा प्रदत्त द्रव्यों को देवताओं को अर्पित किए बिना ही भोग करता है, वह चोर ही है॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

यज्ञ के अवशिष्ट को ग्रहण करनेवाले साधु सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो केवल अपने लिए ही अन्नादि पकाते हैं, वे दुराचारी पापको ही खाते हैं॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥

सभी जीव अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है। यज्ञ से वर्षा होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

कर्म को वेद से उत्पन्न जानो और वेद को अच्युत से उत्पन्न जानो। अतएव सर्वव्यापक ब्रह्म सर्वदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं॥१५॥

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥

हे पार्थ! जो व्यक्ति इस प्रकार से प्रवर्त्तित कर्मचक्र का आचरण नहीं करता है, वह पापरत और इन्द्रियासक्त होकर व्यर्थ ही जीवित रहता है॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

किन्तु, जो व्यक्ति आत्माराम हैं और आत्मामें ही तृप्त रहनेवाले हैं एवं आत्मामें ही सन्तुष्ट हैं, उनके लिए कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

आत्माराम पुरुषको इस जगत्में न तो कर्मके अनुष्ठानसे पुण्य प्राप्त होता है, न ही कर्मके अनुष्ठानको नहीं करनेसे कोई दोष होता है। उनको अपने प्रयोजनके लिए इस ब्रह्माण्डके समस्त जीवोंमें किसीके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९॥

अतएव तुम अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्य कर्मका आचरण करो, क्योंकि अनासक्त होकर कर्मका आचरण करनेसे पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥

जनक आदि राजर्षियोंने भी कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया था। अतः लोकशिक्षाके दृष्टिकोणसे भी कर्म करना ही तुम्हारे लिए उचित है॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार आचरण करते हैं, अन्य लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं। वे जो कुछ भी प्रमाणित करते हैं, अन्य लोग भी उनका अनुवर्तन करते हैं॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥

हे पार्थ! यद्यपि मेरे लिए कुछ भी करणीय कर्म नहीं है, क्योंकि मेरे लिए तीनों लोकोंमें कुछ भी अप्राप्त और प्राप्त करने योग्य नहीं है, तथापि मैं कर्ममें प्रवृत्त हूँ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥

हे पार्थ! यदि कभी मैं सावधानीपूर्वक कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ, तो निश्चय ही सभी मनुष्य सर्वतोभावेन मेरे पथका अनुकरण करेंगे॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्।

सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ, तो सभी लोग भ्रष्ट हो जाएँगे और मैं

वर्णसङ्करका प्रवर्तक बन जाऊंगा। इस प्रकार मैं ही इन सारी प्रजाओंके नाशका कारण बनूँगा॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥२५॥

हे भारत! कर्ममें आसक्त अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोकशिक्षाके इच्छुक ज्ञानी व्यक्ति भी उस प्रकार ही अनासक्त होकर कर्म करें॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

ज्ञानयोगके उपदेशक अज्ञ व्यक्तियोंको यह उपदेश देकर उनकी बुद्धिमें भ्रम नहीं उत्पन्न करेंगे कि कर्मत्यागकर ज्ञानका अभ्यास करो, बल्कि समाहित चित्तसे (अनासक्त होकर) स्वयं सभी कर्मोंका भलीभाँति आचरण करते हुए अज्ञ व्यक्तियोंको भी कर्ममें नियुक्त करेंगे॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२७॥

सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अहङ्कारसे मोहितचित्तवाला व्यक्ति ऐसा मान लेता है कि मैं कर्ता हूँ॥ २७॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

हे महाबाहो अर्जुन! जो इस तथ्यसे परिचित हैं कि आत्मा गुण और कर्मसे पृथक् है, वे तत्त्वविद् पुरुष कर्तापनका अभिमान नहीं करते हैं। क्योंकि, वे ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियाँ तो अपने अपने विषयोंमें रत हैं, किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

प्राकृत गुणोंमें आविष्ट पुरुष विषयोंमें आसक्त होते हैं। जो सर्वज्ञ हैं, वे उन अज्ञ और मन्दबुद्धिवाले व्यक्तियोंको विचलित नहीं करेंगे॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

आत्मनिष्ठ चित्तसे सभी कर्म मुझे समर्पित करते हुए निष्काम,

ममताशून्य और शोकरहित होकर युद्ध करो॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावान्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

जो सभी श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित व्यक्ति मेरे इस अभिप्राय (निष्काम-कर्मयोग) का नित्य अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मके बन्धनसे मुक्ति लाभ करते हैं॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३२॥

किन्तु, जो दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतका अनुवर्तन नहीं करते हैं, तुम उन सभीको विवेकरहित, समस्त प्रकारके ज्ञानोंसे वञ्चित और सर्वपुरुषार्थसे भ्रष्ट जानो॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३३॥

विवेकवान् व्यक्ति भी अपने स्वभावके अनुसार चेष्टा करते हैं। सभी जीव प्रकृतिका अनुगमन करते हैं। अतएव इन्द्रियनिग्रह क्या करेगा?॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रियका अपने अपने विषयके प्रति राग और द्वेष अवश्यम्भावी है, अतः तुम उनके अधीन मत होओ, क्योंकि, राग और द्वेष साधकोंके कल्याणके विरोधी हैं॥३४॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३५॥

भलीभाँति अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा किञ्चित् दोषयुक्त स्वधर्म श्रेष्ठ है। अपने अपने वर्णाश्रमोचित स्वधर्मके पालनमें मर जाना भी अच्छा है, परन्तु परधर्म भयावह है॥३५॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापञ्चरति पुरुषः।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्य बलादिव नियोजितः॥३६॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! फिर यह पुरुष किसके द्वारा प्रेरित होकर न चाहते हुए भी बलपूर्वक नियोजित होनेके समान पापका आचरण

करता है ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान्ने कहा—यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है एवं रजोगुणसे उत्पन्न सर्वभक्षी और अतिशय उग्र इस कामको ही जीवका प्रधान शत्रु जानो ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वहिर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार आग धुँएसे, दर्पण धूलसे और गर्भ जारायुसे आवृत रहता है, उसी प्रकार यह ज्ञान कामसे आवृत रहता है ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे अर्जुन! इस कभी पूर्ण न होनेवाले अग्निके सदृश कामरूप चिरशत्रुसे ज्ञानीका ज्ञान आवृत है ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामके आश्रयस्थल कही जाती हैं। यह काम इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादितकर जीवको विमोहित करता है ॥४०॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अतः हे अर्जुन! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशीभूतकर ज्ञान और विज्ञानको नाश करनेवाले पापरूप इस कामको विनष्ट करो ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको श्रेष्ठ कहा जाता है। मन इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, किन्तु बुद्धि मनसे भी श्रेष्ठ है एवं जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है, वह आत्मा है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

तृतीयोऽध्यायः

हे महाबाहो ! इस प्रकार जीवात्माको बुद्धिसे श्रेष्ठ जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें कर कामरूप शत्रुको विनष्ट करो ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'कर्मयोगो' नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

तृतीय अध्याय समाप्त ।

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने मनुसे कहा एवं मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

हे अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, परन्तु बहुत समय होनेसे वह योग इस लोकमें नष्टप्राय हो गया है ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

तुम मेरे भक्त और सखा हो, इसलिए यह वही पुरातन योग आज मेरे द्वारा तुम्हें कहा गया, क्योंकि यह उत्तम रहस्य है ॥३॥

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुनने कहा—आपका जन्म तो अभी हुआ है और सूर्यका जन्म प्राचीनकालमें हुआ है। अतः मैं इस बातको किस प्रकार समझूँ कि आपने ही पूर्वकालमें सूर्यको यह योग कहा था ॥४॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे परन्तप अर्जुन! तुम्हारे और मेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु तुम उन्हें नहीं जानते हो ॥५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अजन्मा, अविनाशी, एवं समस्त जीवोंका ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी योगमायाके द्वारा अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका अवलम्बनकर आविर्भूत होता हूँ ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने नित्य सिद्ध देहको प्रकट करता हूँ ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

मैं अपने एकान्त भक्तोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिए युग-युगमें आविर्भूत होता हूँ ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म अप्राकृत हैं, जो इसे यथार्थरूपमें जान लेते हैं, वे वर्तमान शरीरको त्यागकर पुनः जन्म नहीं ग्रहण करते हैं, बल्कि मुझे ही प्राप्त करते हैं ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोधशून्य होकर, मुझमें एकाग्रचित्त होकर और मेरे शरणागत होकर ज्ञानरूपी तपस्यासे पवित्र अनेक भक्त मेरी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर चुके हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

हे पार्थ! जो मनुष्य जिस प्रकार मुझे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्मोंके फलकी अभिलाषा करनेवाले इस लोकमें देवताओंकी पूजा किया करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे उत्पन्न फल शीघ्र प्राप्त होता है ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

गुण और कर्मके विभागानुसार ब्राह्मणादि चार प्रकारके वर्णसमूह मेरे द्वारा सृष्ट हुए हैं। उनका कर्ता होनेपर भी तुम मुझे अविनाशीको अकर्ता ही जानो॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

मैं कर्मोंमें लिप्त नहीं होता हूँ, क्योंकि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वतः जान लेते हैं, वे कभी कर्मोंसे आबद्ध नहीं होते हैं॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

पूर्वकालीन मुमुक्षुगणने भी ऐसा ही जानकर लोक-प्रवर्तनके लिए कर्म किया है। अतः तुम भी प्राचीन पुरुषोंके द्वारा पुरातनकालमें अनुष्ठित कर्मोंको ही करो॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात्॥१६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—विवेकी पुरुष भी इस विषयमें मोहित हो जाते हैं। अतः मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व कहूँगा जिसे जानकर तुम इस अमङ्गलपूर्ण संसारसे मुक्त हो जाओगे॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्म, विकर्म और अकर्मको जानना चाहिए, क्योंकि कर्मका तत्त्व अतिशय दुर्गम है॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

जो कर्ममें अकर्म एवं अकर्ममें कर्म देखते हैं, वे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्मोंके कर्ता हैं॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

जिनके सभी कर्म कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं तथा ज्ञानरूपी

अग्निसे दग्ध हो गये हैं, उनको ज्ञानिजन भी पण्डित कहते हैं॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

जो कर्मफलमें आसक्तिका परित्यागकर अपने नित्य आनन्दमें परितृप्त हैं एवं योगक्षेमके आश्रयके लिए चेष्टा नहीं करते हैं, वे कर्ममें भलीभाँति प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करते हैं॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

जिनके चित्त और देह संयत हैं तथा जो कामनाशून्य हैं, जिन्होंने सभी प्रकारके भोग-सामग्रियोंका परित्याग कर दिया है, ऐसे पुरुष केवल शरीरकी रक्षाके लिए कर्म करते हुए भी पापग्रस्त नहीं होते हैं॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

जो अयाचित प्राप्त द्रव्यसे परितुष्ट, शीत-उष्णादि द्वन्द्व विषयोंमें सहनशील, मत्सरतारहित और सिद्धि एवं असिद्धिमें समभावसे रहते हैं, वे कर्म करनेपर भी बन्धनको प्राप्त नहीं होते हैं॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥२३॥

जो आसक्तिरहित हैं, मुक्त हो गए हैं, जिनका चित्त ज्ञानमें स्थित है, परमेश्वरकी आराधनाके लिए कर्मका आचरण करनेवाले ऐसे पुरुषके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं अर्थात् अकर्म भावको प्राप्त होते हैं॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्तुवा आदि ब्रह्म हैं, घृतादि हवन सामग्रियाँ भी ब्रह्म हैं, अग्नि भी ब्रह्मरूपरूप है, उसमें ब्रह्मरूप होता (कर्त्ता) के द्वारा आहुतिरूपी क्रिया भी ब्रह्म है। ब्रह्मरूप कर्ममें एकाग्रचित्त उस व्यक्तिके द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त किए जाने योग्य (फल) है॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥

अन्य कर्मयोगिगण देवताओंके पूजनरूप देवयज्ञकी ही भलीभाँति

उपासना करते हैं और ज्ञानयोगिगण ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञको आहुति प्रदान करते हैं॥१५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारिगण मनःसंयमरूप अग्निमें कर्ण आदि इन्द्रियोंकी आहुति देते हैं और गृहस्थगण इन्द्रियरूप अग्निमें शब्दादि विषयोंकी आहुति देते हैं॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।

आत्मसंयमयोगान्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥

अन्य योगिगण ज्ञान द्वारा प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें सभी इन्द्रियोंकी क्रियाओं और प्राणोंकी क्रियाओंकी आहुति देते हैं॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८॥

कोई कोई द्रव्यदानरूप यज्ञ करते हैं, कोई कोई तपस्यारूप यज्ञ करते हैं, कोई कोई योगरूप यज्ञ करते हैं और कोई कोई वेदाध्ययन एवं इसके ज्ञानरूप यज्ञको करते हैं। ये सभी प्रयत्नशील व्यक्ति तीक्ष्णव्रत करनेवाले हैं॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥२९॥

प्राणायामनिष्ठ व्यक्ति अपान वायुमें प्राणवायुकी आहुति देते हैं, इसी प्रकार प्राणवायुमें अपानवायुकी आहुति देते हैं और प्राण और अपानको रोककर प्राणायामपरायण होते हैं। कोई कोई संयमी पुरुष प्राणोंमें प्राणोंकी आहुति देते हैं॥२९॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥३०॥

ये सभी यज्ञके ज्ञाता हैं एवं यज्ञके द्वारा पापरहित होकर यज्ञावशेषरूप अवशिष्ट अमृतका भोगकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं॥३०॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञ नहीं करनेवालेके लिए तो यह अल्प सुखविशिष्ट मनुष्य लोक भी प्राप्य नहीं है, तो भला अन्य देवादि लोक किस

प्रकार प्राप्त हो सकते हैं॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

इस प्रकार अनेक यज्ञ वेद द्वारा विस्तृत रूपमें वर्णित हुए हैं, तुम उन सबको कर्मजनित जानो। इस प्रकार जानकर तुम मुक्ति प्राप्त करोगे॥३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥३३॥

हे परन्तप पार्थ! ज्ञानयज्ञ द्रव्यमय यज्ञसे श्रेष्ठ है, क्योंकि समस्त कर्म अव्यर्थरूप ज्ञानमें समाप्त होते हैं॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुके निकट दण्डवत प्रणाम द्वारा, सङ्गत प्रश्न द्वारा और सेवा द्वारा उस ज्ञानको समझो। तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश देंगे॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।

येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

हे पाण्डव! उस ज्ञानको जानकर तुम पुनः मोहित नहीं होओगे और उस ज्ञानके द्वारा तुम निखिल जीवोंको आत्मामें और अनन्तर मुझ परमात्मामें दर्शन करोगे॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥३६॥

यदि तुम समस्त पापियोंसे भी अतिशय पाप करनेवाला हो, तो भी इस ज्ञानरूपी नौकाका आश्रयकर तुम सम्पूर्ण पापसमुद्रसे तर जाओगे॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि इन्धनको भस्म कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥

इस लोकमें ज्ञानके सदृश पवित्र और कुछ भी नहीं है। निष्काम कर्मयोगमें सम्यक् सिद्ध व्यक्ति उस ज्ञानको कालक्रमसे स्वयं ही अपने हृदयमें प्राप्त करते हैं॥३८॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय तथा साधनपरायण व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करते हैं और ज्ञानको प्राप्तकर संसारनाशरूपी परम शान्ति प्राप्त करते हैं॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

अज्ञ, श्रद्धाविहीन और संशययुक्त व्यक्ति विनाशको प्राप्त होता है। संशययुक्त व्यक्तिके लिए न तो यह लोक है, न ही पर लोक है और सुख भी नहीं है॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥४१॥

हे धनञ्जय! जिन्होंने निष्काम कर्मयोग द्वारा संन्यासविधिसे कर्मत्याग किया है, ज्ञानके द्वारा संशयका नाश कर लिया है और आत्मस्वरूपको उपलब्ध किया है, उन्हें कर्मसमूह नहीं बाँधते हैं॥४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

अतएव हे भारत! तुम अपने हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित संशयको ज्ञानरूपी तलवारसे छेदकर निष्काम कर्मयोगका आश्रय करते हुए युद्धके लिए खड़े हो जाओ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'ज्ञानयोगो' नाम चतुर्थोऽध्यायः।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आप कर्मसंन्यासकी बात कहकर पुनः कर्मयोगकी भी प्रशंसा कर रहे हैं। अतः इन दोनोंमें से जो एक मेरे लिए मङ्गलजनक हो, उसे सुनिश्चितरूपमें कहें॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं, किन्तु उन दोनोंमें भी निष्काम कर्मयोग ही कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ है॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

निर्व्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

हे महाबाहो! जो व्यक्ति न किसी से द्वेष करते हैं और न ही किसी वस्तुकी आकांक्षा करते हैं, वे सदा ही संन्यासी समझे जाने योग्य हैं, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित व्यक्ति ही इस संसार-बन्धनसे अनायास मुक्त होते हैं॥३॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥४॥

अज्ञ व्यक्तिगण ही सांख्य और कर्मयोगको पृथक्-पृथक् कहते हैं, न कि पण्डितगण। एकका भी भलीभाँति आश्रय करनेवाले दोनोंके मोक्षरूप फलको प्राप्त करते हैं॥४॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं साङ्ख्यञ्च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

सांख्ययोगके द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगके द्वारा भी वही स्थान प्राप्त होता है। जो सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगको समान फलदायी देखते हैं, वे ही तत्त्वदर्शी हैं॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥६॥

हे महाबाहो! निष्काम कर्मयोगरहित संन्यास दुःखदायी है, किन्तु निष्काम कर्म करनेवाले ज्ञानी होकर शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

जो निष्काम कर्मयोगी है, जो विशुद्ध अन्तःकरणवाले, विजितात्मा और जितेन्द्रिय हैं तथा सभी जीवोंके अनुरागभाजन हैं, वे कर्म करनेपर भी कर्ममें लिप्त नहीं होते हैं॥७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्शनन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्मुषिषन् निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

कर्मयोगी तत्त्वज्ञ होकर दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, निद्रा, श्वास, कथन, त्याग, ग्रहण, उन्मीलन और निमीलनादि करनेपर भी बुद्धिके द्वारा निश्चयकर ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें तल्लीन हैं, मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ॥८-९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्बसा॥१०॥

जो व्यक्ति कर्ममें आसक्ति त्यागकर सभी कर्मोंको मुझ परमेश्वरके प्रति समर्पणकर करते हैं, वे जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे नहीं लिप्त होते हैं॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

योगिगण चित्तशुद्धिके लिए आसक्ति त्यागकर काय, मन और बुद्धि द्वारा अथवा कभी मनःसंयोगरहित केवल इन्द्रिय द्वारा भी कर्म करते हैं॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

निष्काम कर्मयोगी कर्मफलकी आसक्तिको त्यागकर निष्ठाप्राप्त मोक्षको प्राप्त होते हैं। किन्तु, सकाम कर्मी कामप्रवृत्तिवश फलासक्त होकर

बन्धनको प्राप्त होता है॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

जितेन्द्रिय जीव मन द्वारा सभी कर्मोंको त्यागकर न तो स्वयं कर्म करता हुआ न ही दूसरोंसे करवाता हुआ इस नौ द्वारोंवाले शरीरमें सुखपूर्वक अवस्थित रहता है॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

ईश्वरने न लोगोंके कर्तव्य, न कर्म और न ही कर्मफलके संयोगका सृजन किया है, बल्कि उनका स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या ही इनमें प्रवृत्त हो रही है॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

परमेश्वर न किसीके पापको और न ही पुण्यको ग्रहण करते हैं। अविद्या द्वारा जीवका स्वाभाविक ज्ञान आच्छादित है, उसीसे समस्त जीव मोहित हो रहे हैं॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

किन्तु, जिनका वह अज्ञान भगवान्‌के ज्ञानसे विनष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान ही सूर्यके समान प्रकाशित होकर (अन्धकार या अविद्याको नष्ट करते हुए) अप्राकृत परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है॥१६॥

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

जिनकी बुद्धि परमेश्वरमें ही निविष्ट है, जिनका मन केवल उनके ही ध्यानमें मग्न है, जो मात्र उनके ही प्रति निष्ठावान् हैं, जो उनके श्रवण-कीर्तन-परायण हैं, जिनकी समस्त अविद्या विद्या द्वारा नष्ट हो चुकी है, वे अपुनरावृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

ज्ञानिगण विद्या-विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

जिन लोगोंका मन समत्वमें अवस्थित है, उनके द्वारा इस लोकमें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है। क्योंकि, ब्रह्म निर्दोष तथा समभावयुक्त हैं, अतः वे ब्रह्ममें ही अवस्थित रहते हैं॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

ब्रह्ममें अवस्थित ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्थिर बुद्धिवाले और मोहरहित होते हैं। वे प्रिय वस्तुको प्राप्तकर हर्षित नहीं होते हैं और अप्रिय वस्तुको प्राप्तकर उद्विग्न भी नहीं होते हैं॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

विषयसुखमें अनासक्त चित्तवाले लोग आत्मामें जो सुख है, उसे प्राप्त करते हैं। ब्रह्मयोगसे युक्त वे पुरुष अक्षय सुख प्राप्त करते हैं॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

हे कौन्तेय! जो समस्त भोग विषयके संयोगसे उत्पन्न होते हैं, वे सभी निश्चय ही दुःखके कारण हैं और आदि तथा अन्त होनेवाले हैं। ज्ञानी पुरुष उनमें नहीं अनुरक्त होते हैं॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

जो पुरुष इस जन्ममें ही शरीरके नाश होनेके पूर्व काम और क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहनेमें समर्थ होते हैं, वे योगी हैं और वे ही सुखी हैं॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

जो आत्मामें ही सुखी हैं, आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं और आत्मामें ही दृष्टियुक्त हैं, वे योगी पुरुष ब्रह्ममें अवस्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त होते हैं॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥

निष्पाप, निःसंशय, संयतचित्त और सभी प्राणियोंके हितमें रत ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

काम, क्रोधादिसे रहित संयत चित्तवाले आत्मतत्त्वज्ञ यतिगणके लिए सर्वतोभावेन ब्रह्मनिर्वाण उपस्थित होता है॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

जो शब्द-स्पर्शादि बाह्य विषयोंको मनसे बहिष्कृतकर, दृष्टिको दोनों भ्रुकुटियोंके बीच स्थितकर उच्छ्वास और निःश्वासरूपसे दोनों नासिकाओंमें विचरणशील प्राण और अपान वायुके उर्ध्व और अधोगतिको रोककर, उन्हें समानकर अर्थात् कुम्भककर जितेन्द्रिय, जितमना, जितबुद्धि, मोक्षपरायण एवं इच्छा, भय और क्रोधरहित हैं, वे सर्वदा ही मुक्त हैं॥२७-२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

मनुष्य मुझे सभी यज्ञ और तपस्याओंका भोक्ता, सभी लोकोंका महानियन्ता और सभी जीवोंका सुहृद जानकर मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

‘संन्यासयोगो’ नाम पञ्चमोऽध्यायः।

पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

श्रीभगवानने कहा—जो कर्मफलकी अपेक्षा न कर अवश्य करणीय कर्मोंको करते हैं, वे संन्यासी और योगी हैं। अग्निहोत्रादि कर्मोंका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है और दैहिक कर्ममात्रका परित्याग करनेवाला योगी नहीं है॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥२॥

हे अर्जुन! पण्डितगण जिसे संन्यास कहते हैं, तुम उसे ही योग जानो, क्योंकि जो कामसङ्कल्प (फलकी इच्छा तथा विषय-भोगकी इच्छा) का परित्याग करनेमें असमर्थ है, वह योगी नहीं होता है॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥३॥

निश्चल ध्यानयोगमें आरूढ़ होनेके इच्छुक मुनिके लिए कर्म ही साधन कहलाता है और योगारूढ़ अवस्थामें अर्थात् ध्याननिष्ठ होनेपर विक्षेप कर्मोंका त्याग ही उस मुनिके लिए साधन कहा जाता है॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥४॥

जिस समय उन्हें न तो इन्द्रियग्राह्य विषयोंमें और न ही कर्मोंमें आसक्ति रहती है, उस समय समस्त फलाकाङ्क्षाओंका त्याग करनेवाले त्यागी वे पुरुष योगपथपर आरूढ़ (योगारूढ़) कहे जाते हैं॥४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥

मनुष्य अनासक्त मनके द्वारा आत्माका संसारसे उद्धार करे, अपने आत्माकी अधोगति न होने दे। क्योंकि, आत्मा अर्थात् मन ही अपना बन्धु और मन ही अपना शत्रु है॥५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिस जीवात्माके द्वारा मन जीत लिया गया है, उस जीवात्माका मन ही उसका बन्धु है, किन्तु अजितेन्द्रिय जीवका मन ही शत्रुके समान अपकारमें प्रवृत्त होता है ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमानमें राग-द्वेषादिसे रहित जितमना योगीका आत्मा अतिशय समाधिस्थ होता है ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

जिनका चित्त ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है, जो विकाररहित और जितेन्द्रिय हैं तथा मिट्टी, पाषाण और स्वर्णमें समदर्शी हैं, वे योगारूढ़ पुरुष योगी कहलाते हैं ॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु तथा पापियोंके प्रति भी समभावयुक्त पुरुष विशिष्ट अर्थात् अतिश्रेष्ठ होते हैं ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी पुरुष निर्जन स्थानमें एकाकी निवास करते हुए चित्त और देहको संयतकर आशारहित होकर एवं विषयको अस्वीकारकर मनको सर्वदा समाधियुक्त करेंगे ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पवित्र स्थानमें न अति उच्च और न अति निम्न कुशासनके उपर मृगासन और उसके उपर वस्त्रासन बिछाकर, उस निश्चल आसनको भूमिपर स्थापित करते हुए उस आसनके उपर बैठकर, मनको एकाग्रकर, चित्त, इन्द्रिय और उनके कार्योंको संयत करते हुए

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए योगाभ्यास करेंगे ॥११-१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित, निर्भय तथा प्रशान्त आत्मा शरीर, गर्दन और मस्तकको लम्बवत् रखते हुए, अन्य दिशाओंमें दृष्टिपात न करते हुए दृष्टिको अपनी नाकके अग्रभागमें केन्द्रितकर, मनको संयमितकर, चित्तको मुझमें लगाते हुए तथा मेरे परायण होकर युक्तभावसे रहेंगे ॥ १३-१४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

संयतचित्त योगी पूर्वोक्त रीतिसे मनको सदा ही योगयुक्तकर मेरे स्वरूपमें अवस्थित होकर परम निर्वाणरूपी शान्ति प्राप्त करते हैं ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन! न तो अत्याहारीका और न ही अनाहारीका तथा न अतिशय निद्रापरायण और न ही सदा जाग्रत रहनेवालेका योग सिद्ध होता है ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका योग सांसारिक क्लेशोंका हरण करनेवाला होता है ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जब मन सम्पूर्णरूपसे संयमित होकर निश्चल भावसे आत्मामें ही अवस्थित होता है, तब समस्त कामनाओंकी स्पृहासे रहित व्यक्ति युक्त कहलाते हैं ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जिस प्रकार दीप वायुरहित स्थानमें नहीं कम्पित होता है, उसी प्रकार आत्मविषयक योगाभ्यासकारी संयतचित्त योगीकी उपमा जाननी चाहिए॥ १९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
 यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥२०॥
 सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
 वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥
 यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
 यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥
 तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
 स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥
 सङ्कल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
 मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥
 शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

जिस अवस्थामें चित्त योगाभ्यास द्वारा संयमित होकर विषयोंसे विरक्त हो जाता है, जिस अवस्थामें विशुद्ध चित्त द्वारा आत्माका दर्शन करते-करते वे आत्मामें ही तुष्ट होते हैं, जिस अवस्थामें वे केवल बुद्धि द्वारा ग्रहणीय इन्द्रियातीत नित्य सुखोंका अनुभव करते हैं, जिस अवस्थामें स्थित होकर आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, जिस लाभको (आत्मसुखको) प्राप्तकर अन्य लाभोंको उससे अधिक नहीं मानते हैं और जिस अवस्थामें अवस्थित होकर गुरुतर (भयानक) दुःखसे भी अभिभूत नहीं होते हैं, उस अवस्थाको सुख-दुःखके सम्पर्कसे रहित योगके नामसे जानो। उस योगका अभ्यास धैर्ययुक्त चित्त द्वारा, सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंका सम्पूर्ण परित्यागकर, मनके द्वारा सभी दिशाओंसे इन्द्रियोंको संयतकर, साधु-शास्त्रके उपदेशानुसार निश्चयपूर्वक करेंगे। धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मनको आत्मामें स्थितकर क्रमशः विरक्त होंगे और कुछ भी चिन्ता नहीं करेंगे॥२०-२५॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
 ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

यह चञ्चल और अस्थिर मन जिन जिन विषयोंकी ओर धावित होता है, मनको उन उन विषयोंसे निगृहीतकर आत्मामें ही स्थिर करेंगे॥
२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

रजोगुण और राग-द्वेषादिसे रहित ऐसे प्रशान्तचित्त ब्रह्मभावसम्पन्न योगीको आत्मानुभवरूप उत्तम सुख प्राप्त होता है॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

इस प्रकार पापरहित योगी मनको निरन्तर योगनिष्ठ करते-करते अनायास ही ब्रह्मप्राप्तिरूप परम सुख प्राप्त करते हैं अर्थात् जीवनसे मुक्त हो जाते हैं॥२७॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

सर्वत्र समदर्शी योगयुक्त पुरुष सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंको अवस्थित देखते हैं॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

जो सभी भूतोंमें मुझे और मुझमें सभी भूतोंको देखते हैं, उनके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वे भी मेरे लिए अदृश्य नहीं होते हैं॥
३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

जो योगी एकत्व बुद्धिसे आश्रयकर सभी भूतोंमें स्थित मुझे भजते हैं, वे योगी सभी अवस्थाओंमें रहकर भी मुझमें ही अवस्थित रहते हैं॥
३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

हे अर्जुन! जो योगी अपने समान ही सभी जीवोंके सुख-दुःखको समान देखते हैं, मेरे मतानुसार वे श्रेष्ठ हैं॥३१॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुनने कहा—हे मधुसूदन! आपके द्वारा सर्वत्र समदर्शनरूप जो योग कथित हुआ, मनकी चञ्चलताके कारण मैं उसके स्थायित्वको नहीं देखता हूँ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

हे कृष्ण! क्योंकि मन स्वभावतः चञ्चल है, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंको मथ देनेवाला है, बलवान् और दृढ़ है, अतः मनको वशमें करना मैं वायुको वशमें करनेके समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो अर्जुन! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनाईसे वशमें होनेवाला है, किन्तु हे कुन्तीपुत्र! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा यह वशमें हो जाता है॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

अवशीभूत मनवाले व्यक्तिके लिए योग दुष्प्राप्य है, किन्तु यत्नवान् और वशीभूत मनवालेके लिए यह उपाय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—यह मेरा मत है॥३६॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! श्रद्धापूर्वक योगमें प्रवृत्त, किन्तु असंयमित चित्तवाले पुरुष योगसे भ्रष्ट हो जानेपर, योग-सिद्धिको न प्राप्तकर कौन-सी गति प्राप्त करते हैं॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥३८॥

हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें विक्षिप्त और आश्रयहीन तथा कर्ममार्ग

एवं योगमार्ग—दोनोंसे पतित पुरुष खण्डित मेघके समान छिन्न-भिन्न होकर क्या नष्ट नहीं हो जाते हैं? ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेतुमर्हस्यशेषतः।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण! आप ही मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेमें समर्थ हैं, आपके अतिरिक्त किसी और संशय छेदन करनेवालेका मिलना असम्भव है ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है, न ही परलोकमें, क्योंकि हे तात! शुभ अनुष्ठानकारी कोई व्यक्ति दुर्गतिको नहीं प्राप्त होते हैं ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवान् व्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले लोकोंको प्राप्तकर वहाँ अनेक वर्षोंतक निवास करनेके पश्चात् सदाचार-सम्पन्न धनवानोंके गृहमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा, वे ज्ञानवान् योगियोंके गृहमें जन्म ग्रहण करते हैं। निःसन्देह इस प्रकारका जन्म इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन! वे योगभ्रष्ट पुरुष वहाँ पूर्वजन्मजात परमात्म-विषयिणी बुद्धिको प्राप्त करते हैं और तदनन्तर पुनः योगकी संसिद्धिके लिए प्रयत्न करते हैं ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

निश्चय ही पूर्व अभ्यासके कारण किसी विघ्नके उपस्थित होनेपर भी वे मोक्ष (योग) पथके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं और योगके विषयमें

थोड़ी-सी जिज्ञासा करनेपर ही वेदोक्त कर्ममार्गका उल्लंघन करते हैं॥
४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५॥

किन्तु, प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेके पश्चात् परम गति लाभ करते हैं॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥

योगीको (परमात्माके उपासकको) तपस्वी, ज्ञानी (ब्रह्मके उपासक) और कर्मीसे श्रेष्ठ माना गया है। अतएव हे अर्जुन! तुम योगी बनो॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

मेरे मतानुसार समस्त योगियोंमें भी वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं जो श्रद्धावान् होकर मुझमें आसक्त मनके द्वारा निरन्तर मुझे ही भजते हैं॥४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'ध्यानयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।

षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! मुझमें आसक्तचित्त तथा मेरे परायण होकर योगानुष्ठान करते-करते निःसन्देह जिस प्रकार मुझे सम्पूर्णरूपसे जानोगे, उसे श्रवण करो॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

मैं तुम्हारे लिए विज्ञानसहित इस ज्ञानको सम्पूर्णरूपसे कहूँगा, जिसे जानकर इस संसारमें पुनः और कुछ जानने योग्य शेष नहीं रह जाता है॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥३॥

सहस्र-सहस्र लोगोंमें से कोई एक सिद्धिके लिए यत्न करते हैं और यत्नपरायण सिद्धोंमें भी कोई एक मुझे स्वरूपतः जानते हैं॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥४॥

मेरी बहिरङ्गा प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, पवन, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ भागोंमें विभक्त है॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

किन्तु, आठ भेदोंवाली यह जड़ा प्रकृति निकृष्टा है। इससे उत्कृष्ट जीवस्वरूपा मेरी एक और प्रकृति जानो, जिसके द्वारा यह जगत् अपने कर्म द्वारा भोगनेके लिए गृहीत होता है॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥

समस्त भूतोंको पूर्वोक्त मेरी दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न जानो। मैं समस्त

जगत्का स्रष्टा तथा संहारकर्ता हूँ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

हे धनञ्जय! अन्य कुछ भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं है, धागेमें मणियोंके सदृश ही यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें पिराया हुआ है॥७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

हे कौन्तेय! मैं जलमें रस हूँ, सूर्य और चन्द्रमें ज्योति हूँ, सभी वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द हूँ तथा पुरुषोंमें पुरुषत्व भी मैं ही हूँ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

मैं पृथ्वीका पवित्र गन्ध हूँ, अग्निका तेज हूँ, सभी भूतोंकी आयु हूँ और तपस्वियोंका तप हूँ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

हे पार्थ! मुझे सभी भूतोंका नित्य कारण जानो। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि तथा तेजस्वियोंका तेज हूँ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्तिरहित और आकांक्षारहित बल तथा सभी भूतोंमें सन्तानोत्पत्तिमात्रके उपयोगी धर्मसङ्गत काम हूँ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

जो भी सात्त्विक भावसमूह हैं ओर जो राजसिक तथा तामसिक भावसमूह हैं, वे समस्त मेरी प्रकृतिके गुणकार्य हैं। मैं उन सब गुणोंसे स्वाधीन हूँ, किन्तु वे समस्त मेरी शक्तिके अधीन हैं॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

पूर्वोक्त त्रिविध गुणमय भावों द्वारा सम्पूर्ण जगत् मोहित है, अतः लोग त्रिगुणातीत तथा अविनाशी मुझको नहीं जान पाते हैं॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

यह अलौकिकी एवं त्रिगुणात्मिका मेरी माया निश्चय ही दुस्तर है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

दूषित कर्म करनेवाले, विवेकशून्य, मनुष्योंमें नीच, मायाके द्वारा विलुप्त ज्ञानवाले एवं असुर भावयुक्त व्यक्तिगण मेरा आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥

हे भरतर्षभ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी—ये चार प्रकारके सुकृतिशील लोग मेरा भजन करते हैं॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

उनमें से नित्य मुझमें एकाग्रचित्त और एकमात्र मुझमें अनुरक्त तत्त्वविद् ज्ञानी व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उनको अतिशय प्रिय हूँ और वे भी मुझे प्रिय हैं॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

ये सभी महत् हैं, किन्तु ज्ञानी व्यक्ति मेरे आत्मस्वरूप हैं—यही मेरा अभिमत है, क्योंकि वे मद्गतचित्त होकर सर्वोत्तम गतिस्वरूप मेरा ही आश्रयकर अवस्थान करते हैं॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

समस्त वस्तुएँ वासुदेवमय हैं—इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न पुरुष अनेक जन्मोंके पश्चात् मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसे महात्मा नितान्त दुर्लभ हैं॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥

आर्त्ति आदि दूर करनेकी कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया

है, वे उन उन देवताओंकी आराधनाके उपयुक्त नियमोंका अवलम्बनकर अपने स्वभावके वशीभूत होकर देवताओंको भजते हैं॥
२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥

जो जो सकाम भक्त जिस जिस देवमूर्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है, मैं अन्तर्यामीरूपमें उस उस भक्तकी श्रद्धा उस उस देवतामें ही दृढ़ कर देता हूँ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥२२॥

वह व्यक्ति उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी पूजाका प्रयास करता है एवं उन कामनाओंको उस देवतासे प्राप्त करता है, जो कि मेरे ही द्वारा विधान किए गए हैं॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

किन्तु, उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नश्वर है। देवपूजकगण देवताओंको प्राप्त होते हैं तथा मेरे भक्तगण मुझे ही प्राप्त होते हैं॥
२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

बुद्धिहीन व्यक्तिगण मेरे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अव्यय, अप्राकृत स्वरूप-जन्म-लीलादिको नहीं जानकर, प्रपञ्चातीत मुझे मायिक मनुष्यादिकी भाति जन्म ग्रहण करनेवाला मानते हैं॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

योगमाया द्वारा आवृत मैं सभीके दृष्टिगोचर नहीं होता हूँ। अज्ञानी मानवसमूह जन्मरहित तथा नित्य मुझे नहीं जान पाता है॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

हे अर्जुन! मैं भूत, वर्तमान तथा भविष्यके स्थावर जङ्गमादि समस्त भूतोंको जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता है॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥२७॥

हे परन्तप! हे अर्जुन! सृष्टिके आरम्भमें समस्त जीव इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःख आदि द्वन्द्व विषयोंसे सम्यक् रूपेण मोहित होते हैं॥ २७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥

किन्तु, जिन पुण्यकर्मकारी लोगोंका पाप नष्ट हो गया है, वे सुख-दुःखादि मोहसे मुक्त होकर अविचलित चित्तसे मुझे भजते हैं॥२८॥

जरा मरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

जो जरा-मरणसे मुक्त होनेके लिए मेरा आश्रयकर साधन करते हैं, वे उस ब्रह्मको, शुद्ध जीवात्मस्वरूपको एवं संसार-बन्धनरूप समस्त कर्मोंको जानते हैं॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

जो समस्त व्यक्ति मुझे अधिभूत, अधिदैव ओर अधियज्ञके साथ जानते हैं, मुझमें आसक्तचित्त वे व्यक्ति अन्तकालमें भी मुझे जानते हैं अर्थात् मृत्युकालमें भी मेरा स्मरण कर पाते हैं॥३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'ज्ञानविज्ञानयोगो' नाम सप्तमोऽध्यायः॥

सप्तम अध्याय समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।

अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥१॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है और अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं?॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥२॥

हे मधुसूदन! इस देहमें यज्ञके अधिष्ठाता कौन हैं, वे किस प्रकार अवस्थित हैं एवं वे मृत्युके समय संयतचित्तवाले पुरुषोंको किस उपायसे ज्ञात होते हैं?॥२॥

श्रीभगवानुवाच।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥३॥

श्रीभगवान्ने कहा—नित्य अक्षर अर्थात् विनाशरहित परमतत्त्व ही ब्रह्म है, शुद्ध जीव अध्यात्म कहलाता है तथा जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला संसार ही 'कर्म' संज्ञासे अभिहित होता है॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥४॥

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सभी नश्वर पदार्थ अधिभूत हैं, विराट् पुरुष अधिदैव अर्थात् देवताओंके अधिपति हैं तथा मैं ही इस शरीरमें अधियज्ञ अर्थात् अन्तर्यामीरूपमें यज्ञादि कर्मोंका प्रवर्तक हूँ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥

जो अन्तिम कालमें भी मुझे ही स्मरण करते हुए अपने शरीरको त्यागकर प्रस्थान करते हैं, वे मेरे भावको प्राप्त होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है॥५॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे कौन्तेय! जो अन्तकाल में जिस जिस विषयकी चिन्ता करते हुए शरीर त्याग करते हैं, सर्वदा उसीके चिन्तनमें तन्मय वे उसी उसी भावको प्राप्त होते हैं ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

अतः निरन्तर मुझे स्मरण करो एवं युद्ध करो। मन और बुद्धि मुझमें समर्पित करनेसे निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होओगे ॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ! अभ्यासयोगसे युक्त तथा कहीं और न जानेवाले चित्तसे निरन्तर दिव्य परम पुरुषका चिन्तन करते-करते उन्हें ही प्राप्त होता है ॥८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयंसमनुस्मरद् यः।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो एकाग्रचित्त तथा भक्तिसहित योगबलसे दोनों भ्रुकुटियोंके मध्य प्राणवायुको भलीभाँति स्थापितकर सर्वज्ञ, सनातन, अखिल नियन्ता, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सबके विधाता, अचिन्त्य रूप, सूर्यके सदृश स्वप्रकाशित और प्रकृतिसे अतीत पुरुषको मृत्युकालमें स्मरण करते हैं, वे उसी दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करते हैं ॥९-१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदज्ञ पण्डितगण जिसे अविनाशी कहते हैं, वासनारहित संन्यासिगण जिसमें प्रविष्ट होते हैं और जिसे प्राप्त करनेकी अभिलाषासे ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस प्राप्य वस्तुके विषयमें संक्षेपमें तुम्हें बता रहा हूँ ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

जो व्यक्ति सभी इन्द्रियरूप द्वारोंको विषयोंसे संयमितकर, मनको हृदयमें निरोधकर, भ्रूद्वयके मध्यमें प्राणवायुको स्थापित करते हुए आत्मविषयक समाधिरूप योगस्थैर्यसहित 'ॐ'—इस एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्दका उच्चारण करते-करते तथा मुझे ध्यान करते-करते देहत्यागपूर्वक प्रयाण करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं॥१२-१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

हे पार्थ! जो अन्यभावनाशून्य होकर निरन्तर, प्रतिदिन मुझे स्मरण करते हैं, उन नित्ययुक्त योगीके लिए मैं सुलभ हूँ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

महात्मागण मुझे प्राप्त होकर पुनः दुःखके आश्रयस्वरूप अनित्य जन्म नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोक पुनरावर्त्तनशील हैं, किन्तु मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

जो व्यक्ति ऐसा जानते हैं कि एक हजार चतुर्युग पर्यन्त ब्रह्माका दिन तथा एक हजार चतुर्युग पर्यन्त ब्रह्माकी रात्रि होती है, वे रात-दिनके तत्त्वको जाननेवाले हैं॥१७॥

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥

सभी जीव ब्रह्माके दिनके उपस्थित होनेपर अव्यक्त कारणस्वरूपसे प्रकट होते हैं एवं रात्रिकालके उपस्थित होनेपर उसी अव्यक्त नामक कारणस्वरूपमें लीन हो जाते हैं॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

हे पार्थ! वही जीवसमूह बार-बार उत्पन्न होकर रात्रिके आगमनकालमें

लीन हो जाते हैं तथा पुनः दिनके आगमनकालमें नियमके अधीन होकर प्रादुर्भूत होते हैं॥१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

किन्तु, पूर्वोक्त अव्यक्त भावसे भी श्रेष्ठ और विलक्षण जो अनादि अव्यक्त भाव है, वह सभी भूतों के विनष्ट होनेपर भी विनष्ट नहीं होता है॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

उस अव्यक्त भावको अक्षर तथा परमगति कहते हैं। जिसे (उस अव्यक्तभावको) प्राप्तकर संसारमें पुनरागमन नहीं होता है, वही मेरा परम धाम अथवा नित्यस्वरूप है॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

किन्तु, हे पार्थ! वे परम पुरुष एकमात्र अनन्या भक्ति द्वारा ही प्राप्त होने योग्य हैं, जिनके अभ्यन्तरमें समस्त भूत स्थित हैं तथा जिनके द्वारा यह समग्र जगत् व्याप्त है॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

हे भरतश्रेष्ठ! योगिगण जिस कालमें देहको त्यागकर तथा जिस मार्गसे गमनकर निश्चय ही संसारमें पुनरागमन और अपुनरागमनको प्राप्त होते हैं, उस (कालाभिमानी देवताके द्वारा पालित) मार्गके विषयमें कहूँगा॥ २३॥

अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

अग्नि, ज्योति, शुभदिन, शुक्लपक्ष, छः मासरूप उत्तरायणकाल—इन समस्त कालोंके अभिमानी देवताओंके मार्गमें जो समस्त ब्रह्मविद् व्यक्ति प्रयाण करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, छः मासरूप दक्षिणायन काल—इनके देवताओंके

मार्गमें गमन करनेवाले कर्मयोगियोंका चन्द्रज्योतिस्वरूप स्वर्गलोकको प्राप्तकर उपभोग करनेके उपरान्त पुनः संसारमें आगमन होता है॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥२६॥

कृष्ण और शुक्ल—जगत्के ये दो मार्ग ही सनातन स्वीकार किए गए हैं। एकके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है तथा दूसरेके द्वारा संसारमें पुनरावर्तन होता है॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंसे अवगत होकर कोई भी योगी मोहग्रस्त नहीं होते हैं। अतः हे अर्जुन! सर्वदा योगपरायण होओ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

मेरे द्वारा कथित इस तत्त्वसे अवगत होकर भक्तियोगी वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, तपस्या और दान-कर्मादिके भी जो समस्त पुण्यफल शास्त्रोंमें उपदिष्ट हुए हैं—उनका अतिक्रमणकर अप्राकृत नित्य स्थानको प्राप्त करते हैं॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'अक्षरब्रह्मयोगो' नाम अष्टमोऽध्यायः।

अष्टम अध्याय समाप्त।

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैं दोषमुक्त तुम्हें विज्ञानयुक्त, केवल शुद्धभक्ति-लक्षणसे युक्त यह ज्ञान कहूँगा, जिसे जानकर तुम इस दुःखमय संसारसे मुक्त हो जाओगे॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥२॥

यह ज्ञान सभी विद्याओंका राजा, गोपनीय विषयोंका राजा, अतिशय पवित्र, प्रत्यक्ष अनुभवयोग्य, धर्मसङ्गत, बिना कष्टके साधित होने योग्य और सनातन है॥२॥

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥३॥

हे परन्तप! मेरी भक्तिरूप इस धर्मके प्रति श्रद्धाविहीन व्यक्तिगण मुझे प्राप्त न होकर मृत्युयुक्त संसारपथमें भ्रमण करते रहते हैं॥३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥

इन्द्रियातीत मेरी मूर्ति द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है तथा समस्त भूत मुझमें अवस्थित हैं, किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥

मेरे असाधारण योगैश्वर्यको तो देखो, भूतसमूह मुझमें अवस्थित नहीं भी हैं। यद्यपि मेरा स्वरूप भूतधारक तथा भूतपालक का है, तथापि मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥६॥

जिस प्रकार सर्वव्यापी तथा अपरिसीम होनेपर भी वायु सदा ही

आकाशमें स्थित है, उसी प्रकार समस्त भूत मुझमें अवस्थित हैं—ऐसा जानो ॥६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौन्तेय! प्रलयकालमें समस्त भूत मेरी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं तथा पुनः सृष्टिकालमें मैं उन सभीका विशेष भावसे सृजन करता हूँ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका आश्रयकर मैं प्राचीन स्वभाववश कर्मादिके परतन्त्र इस समग्र भूतसमूहकी पुनः पुनः सृष्टि करता हूँ ॥८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनञ्जय! उन सृष्टि आदि कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी भाँति अवस्थित मुझे वे कर्म नहीं बाँधते हैं ॥९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति या माया शक्ति चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है, इसी कारणसे यह जगत् पुनः पुनः परिवर्तित (उत्पन्न) होता है ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मूर्ख व्यक्ति मनुष्याकृति-श्रीविग्रह-आश्रित मेरे परमभावको न जानकर मनुष्य बुद्धिसे भूतसमुदायके महान ईश्वर मेरी अवज्ञा करते हैं ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।

राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

वे निष्फल आशा, निष्फल कर्म और निष्फल ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त होकर मोहिनी, तामसी और राजसी प्रकृतिके ही आश्रित होते हैं ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

हे पार्थ! किन्तु महात्मागण दैवी प्रकृतिका आश्रयकर, मुझे समस्त

भूतोंका आदि कारण तथा अविनाशी जानकर, अनन्य चित्तसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

वे निरन्तर मेरे नाम-गुण-रूप-लीलादिका कीर्तन करते हुए, दृढव्रती होकर यत्न करते हुए तथा भक्तिसहित प्रणाम करते हुए नित्ययुक्त भावसे मेरी उपासना करते हैं॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥

अन्य कोई कोई ज्ञानयज्ञसे यजन करते हुए, कोई अभेद भावसे, कोई पृथक् भावसे, कोई नाना देवतारूपसे और कोई सर्वात्मक भावसे मेरी उपासना करते हैं॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।

अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

हे अर्जुन! मैं अग्निष्टोमादि श्रौतकर्म हूँ, वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म हूँ, मैं श्राद्धका अन्न हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं होम हूँ। मैं ही जगत्का माता, पिता, धाता और पितामह हूँ। मैं ज्ञेय वस्तु हूँ, मैं शोधक हूँ, मैं ॐ कार हूँ एवं मैं ही ऋक्, साम, यजुर्वेदादि हूँ। मैं सबीका कर्मफलरूप गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सृङ्गत्, सृष्टि, स्थिति तथा लय-क्रिया हूँ। मैं आधार एवं अव्यय बीज हूँ, मैं ही ताप प्रदान करता हूँ, वर्षा देता हूँ तथा उसे आकर्षण करता हूँ। मैं अमृत हूँ, मैं मृत्यु हूँ तथा मैं ही स्थूल और सूक्ष्म समस्त वस्तु हूँ॥१६-१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गातिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥२०॥

त्रिवेदोक्त सकाम कर्मपरायण व्यक्तिगण यज्ञोंके द्वारा मेरी पूजाकर, यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पानकर निष्पाप होकर स्वर्ग-गमनकी प्रार्थना करते हैं। पुण्यफलके रूपमें इन्द्रलोकको प्राप्तकर वे दिव्य देवभोग्य भोगोंका उपभोग करते हैं॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकका भोग करनेके पश्चात् पुण्यके क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें पतित होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें उक्त सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुनः पुनः संसारमें आवागमनको प्राप्त होते हैं॥२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥२२॥

अन्य कामनारहित तथा मेरी चिन्तामें निरत जो व्यक्तिगण सर्वतोभावेन मेरी उपासना करते हैं, नित्य मुझमें एकनिष्ठ उन व्यक्तियोंका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३॥

हे कौन्तेय! जो लोग श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी आराधना करते हैं, वे भी अविधिपूर्वक मेरी ही आराधना करते हैं॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥२४॥

क्योंकि मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता तथा प्रभु हूँ, किन्तु वे लोग मुझे स्वरूपतः नहीं जानते हैं, अतः वे संसारमें प्रत्यावर्तन करते हैं॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५॥

देवपूजकगण देवलोकको प्राप्त होते हैं, पितृपूजकगण पितृलोकको प्राप्त होते हैं, भूतपूजकगण भूतलोकको प्राप्त होते हैं और मेरी पूजा करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥२६॥

जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फलादि प्रदान करते हैं, मैं उन शुद्धचित्त भक्तोंके द्वारा भक्तिपूर्वक प्रदत्त उन समस्त वस्तुओंको ग्रहण करता हूँ॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥

हे कौन्तेय! तुम जो भी कर्मका अनुष्ठान करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो होम करते हो, जो भी दान करते हो तथा जो भी तप करते हो, उन सबको मुझे समर्पण करो॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

इस प्रकार तुम शुभ तथा अशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होओगे तथा कर्मफलत्यागरूप योगसे युक्त होकर मुक्तगणमें विशिष्ट होकर मुझे प्राप्त होओगे॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

मैं सभी भूतोंमें सम अर्थात् समदर्शी हूँ। न तो कोई मेरा अप्रिय है और न ही प्रिय है। किन्तु, जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे जिस प्रकार मुझमें आसक्त हैं, मैं भी उनमें उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ॥ २९॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

यदि सुदुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भजनपरायण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह मेरी भक्तिमें निश्चय-बुद्धिवाला है॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है। हे कौन्तेय! यह प्रतिज्ञा कर लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है॥ ३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

नवमोऽध्यायः

हे पार्थ! अधम कुलमें उत्पन्न स्त्री, वैश्य, शूद्रादि जो भी हों, वे मेरा आश्रय ग्रहणकर उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणगण एवं भक्त राजर्षिगण परागति प्राप्त करेंगे, इसमें क्या सन्देह है? अतएव इस अनित्य और दुःखपूर्ण मनुष्य लोकको प्राप्तकर तुम मेरा भजन करो॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः॥३४॥

मेरे परायण चित्तवाला, मेरा भक्त तथा मेरे पूजापरायण होओ। इस प्रकार तुम देह और मनको मुझमें नियुक्तकर मेरे परायण होकर मुझे ही प्राप्त होओगे॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'राजगुह्ययोगो' नाम नवमोऽध्यायः।

नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो! पुनः पहलेकी अपेक्षा मेरे श्रेष्ठ वचनको सुनो, जिसे मैं तुझ प्रेमवान्के हितकी इच्छासे कहूँगा ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥२॥

देवतागण तथा महर्षिगण भी मेरे लीला-प्रभव अर्थात् प्रपञ्चमें आविर्भूत होनेके तत्त्वको नहीं जानते हैं, क्योंकि सभी प्रकारसे मैं देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ ॥२॥

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझे अनादि, जन्मरहित ओर सभी लोकोंके महेश्वरके रूपमें जानते हैं, वे मनुष्योंमें मोहशून्य होकर सभी पापोंसे विमुक्त होते हैं ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमूढता, सहिष्णुता, सत्यवादिता, शम, दम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये समस्त नाना प्रकारके भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥४-५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

मरीचि आदि सात महर्षिगण, उनके भी पूर्वके सनकादि चार ब्रह्मर्षिगण एवं स्वायम्भुवादि चौदह मनुगण—सभी मेरे हिरण्यगर्भ रूपसे मनःसंकल्प-मात्रसे उत्पन्न हुए हैं। इस जगत्में ये ब्राह्मणादि उनके ही

पुत्र-पौत्र या शिष्य-प्रशिष्य रूपमें परिपूरित हैं॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

जो मेरे इन समस्त विभूतियों और भक्तियोगके विषयको यथार्थ रूपमें जानते हैं, वे मेरे निश्चल तत्त्वज्ञान द्वारा युक्त होते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं—इस प्रकार समझकर पण्डितगण भावयुक्त होकर मुझे भजते हैं॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

जो अपने चित्त तथा प्राण मुझे समर्पित कर दिये हैं, वे सर्वदा एक-दूसरेको मेरा तत्त्व बताते हुए एवं मेरे नाम, रूपादिका कीर्तन करते हुए सन्तोष लाभ करते हैं और आनन्दका अनुभव करते हैं॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

मेरे नित्य-संयोगकी अभिलाषासे प्रीतिपूर्वक भजनशील उन लोगोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त होते हैं॥१०॥

तेषामेवानुक्तम्यार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

उन लोगोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही उनकी बुद्धिवृत्तिमें स्थित होकर मैं प्रदीप्त ज्ञानरूप दीपकके आलोकसे अज्ञानसे उत्पन्न संसाररूप अन्धकारको नष्ट कर देता हूँ॥११॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

अर्जुनने कहा—आप परम ब्रह्म, परम धाम तथा परम पवित्र अर्थात्

अविद्यादि मलको नाश करनेवाले हैं—मैं यह जानता हूँ। समस्त ऋषिगण; यथा—देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासादि भी आपको नित्य-पुरुष, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और व्यापक कहते हैं तथा आप स्वयं ही मुझे ऐसा कह रहे हैं॥१२-१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।

न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

हे केशव! आप मुझे जो कुछ कहते हैं, मैं इन सबको सत्य मानता हूँ, क्योंकि हे भगवन्! आपके तत्त्व अथवा जन्मको न तो देवतागण जानते हैं, न ही दानवगण॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देव-देव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपनी शक्ति द्वारा स्वयंको जानते हैं॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

जिन समस्त विभूतियोंके द्वारा आप इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होकर अवस्थित हैं, केवल आप ही अपनी उन समस्त दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णरूपसे कहनेमें समर्थ हैं॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

हे योगमाया-शक्तिविशिष्ट! हे भगवान्! किस प्रकार निरन्तर चिन्ता करते-करते मैं आपको जानूँगा और किन किन पदार्थोंमें किन किन भावोंसे आप मेरे द्वारा चिन्तनीय हैं॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

हे जनार्दन! आप अपने योगैश्वर्य और विभूतियोंको पुनः विस्तृतरूपसे कहें, क्योंकि आपकी कथामृतको श्रवण करते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती॥१८॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! मैं तुम्हें अपनी प्रधान-प्रधान अलौकिक विभूतियोंको कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है॥ १९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥२०॥

हे गुडाकेश! मैं सभी जीवोंके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी हूँ तथा मैं ही सभी जीवोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण हूँ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥२१॥

मैं द्वादश आदित्योंमें विष्णु नामक आदित्य, प्रकाश देनेवालोंमें महाकिरणशाली सूर्य, समग्र वायुगणमें मरीचि नामक वायु तथा नक्षत्रोंमें चन्द्र हूँ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

मैं वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और जीवोंमें चेतना हूँ॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वितेशो यक्षरक्षसाम्।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

मैं रुद्रोंमें शङ्कर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर, अष्ट वसुओंमें अग्नि तथा पर्वतोंमें सुमेरु हूँ॥२३॥

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥२४॥

हे पार्थ! मुझे पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति जानो। मैं सेनापतियोंमें कार्तिकेय तथा जलाशयोंमें समुद्र हूँ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्येकमक्षरम्।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

मैं महर्षियोंमें भृगु, वाक्योंमें एकाक्षर ॐ कार, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थावरोंमें हिमालय हूँ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

मैं वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ तथा सिद्धोंमें

कपिल मुनि हूँ ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

मुझे घोड़ोंमें अमृत-मन्थनसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें नरपति जानो ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, सर्पोंमें वासुकी तथा सन्तानोत्पत्तिका कारण काम भी मैं ही हूँ ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।

पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागोंमें अनन्त, जलचरोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा नामक पितर और दण्ड देनेवालोंमें यमराज भी मैं ही हूँ ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।

मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद, वशीकारियोंमें काल, पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ हूँ ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

मैं ही वेगवान् और पवित्रकारी वस्तुओंमें पवन, शस्त्रधारी पुरुषोंमें शक्त्यावेश-लब्ध जीवविशेष परशुराम, जलचरोंमें मगर एवं नदियोंमें गङ्गा हूँ ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन! मैं ही आकाशादि सृष्ट वस्तुओंकी आदि, स्थिति और अन्त हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् जआत्मज्ञान तथा वक्ताके वाद, जल्प और वितण्डा—इन तीन कथाओंमें तत्त्व-निर्णय करनेवाला वाद हूँ ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरोंमें 'अ'-कार एवं समासोंमें द्वन्द्व समास हूँ। मैं ही संहार

करनेवालोंमें महाकाल रुद्र और सृष्ट प्राणियोंमें चतुर्मख ब्रह्मा हूँ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।

कीर्तिः श्रीर्वाक् नारीणां स्मृतिर्मधा धृतिः क्षमा॥३४॥

मैं सर्वहारी मृत्यु और भावी छः विकारोंमें से प्रथम विकार जन्म हूँ।
मैं स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

मैं सामवेदोंमें इन्द्रस्तुतिरूप बृहत्-साम, छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें
अग्रहायण तथा ऋतुओंमें वसन्त हूँ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

मैं छल करनेवालोंमें जुआ हूँ, तेजस्वियोंमें तेज हूँ, विजयी होनेवालोंमें
जय हूँ, उद्यमी पुरुषोंमें उद्यम हूँ एवं बलवानोंमें बल हूँ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

मैं वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें अर्जुन, मुनियोंमें व्यास एवं कवियोंमें
शुक्राचार्य नामक कवि हूँ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

मैं दमनकारियोंमें दण्ड, जीतनेकी अभिलाषा करनेवालोंमें नीति, गोपनीय
रखनेवालोंमें मौन और ज्ञानियोंमें ज्ञान हूँ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

हे अर्जुन! समस्त जीवोंमें जो मूलकारण अर्थात् बीज है, वह भी मैं
ही हूँ। चर और अचर वस्तुओंमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी
सत्ता मेरे बिना हो॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, किन्तु विभूतियोंका
यह विस्तार मैंने तुम्हें संक्षेपपूर्वक सुनाया॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥४१॥

ऐश्वर्ययुक्त, सौन्दर्य यासम्पत्तियुक्त तथा शक्ति- प्रभावादसे युक्त जो जो वस्तुएँ हैं, उन समस्त वस्तुओंको तुम मेरे तेज या शक्तिके अंशसे उत्पन्न जानो ॥४१॥

अथवा बहूनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा, हे अर्जुन! इस पृथक्-पृथक् उपदिष्ट ज्ञानसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है? तुम मात्र इतना जानो कि मैं अपने एकांशसे इस समस्त जगत्को धारणकर अवस्थित हूँ ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'विभूतियोगो' नाम दशमोऽध्यायः।

दशम अध्याय समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

अर्जुनने कहा! मुझे अनुगृहीत करनेके लिए आपके द्वारा जो परम गोपनीय आत्मविभूति विषयक वचन कहा गया है, उसके द्वारा मेरा यह अज्ञानजनित मोह दूर हुआ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥

हे कमलनयन! मैंने आपसे ही भूतोंकी उत्पत्ति और लयको विस्तारपूर्वक सुना तथा आपके नित्य माहात्म्यको भी सुना॥२॥

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥

हे परमेश्वर! आपने अपने ऐश्वर्यके विषयमें जैसा कहा, वैसा ही है, तथापि हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ऐश्वर्यमय रूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥४॥

हे प्रभो! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मेरे द्वारा आपके उस ऐश्वर्यमय रूपको देखना सम्भवपर है, तो हे योगेश्वर! आप मुझे अपने अविनाशी रूपको दिखावें॥४॥

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! मेरे नाना प्रकार एवं अनेक वर्ण तथा आकृतिसम्पन्न सैकड़ों-हजारों दिव्य रूपोंको देखो॥५॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥६॥

हे भारत! तुम द्वादश आदित्यों, अष्ट वसुओं, दोनों अश्विनी कुमारों, उनचास मरुद्गण एवं पहले न देखे हुए विविध आश्चर्यमय रूपोंको देखो॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥७॥

हे गुडाकेश! अभी मेरे इस शरीरमें एकत्र स्थित चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देखो तथा तुम अन्य जो कुछ देखनेकी इच्छा करते हो, उसे भी देखो॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥८॥

किन्तु, निश्चय ही तुम अपने इन प्राकृत नेत्रोंसे मुझे देखनेमें समर्थ नहीं हो, अतएव मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ और इससे तुम मेरी ऐश्वरिक योगशक्तिका दर्शन करो॥८॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥९॥

संजयने कहा—हे राजन्! इस प्रकार कहनेके बाद महायोगेश्वर श्रीहरिने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्यमय रूप दिखलाया॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११॥

अर्जुनने भगवानके अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक आश्चर्याकृतिवाले, अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित, अनेक दिव्य अस्त्रधारी, दिव्य माला और वस्त्रोंसे सुशोभित, दिव्य गन्ध द्वारा अनुलिप्त, सभी आश्चर्योंसे युक्त, कान्तियुक्त, अनन्त तथा सर्वत्र मुखवाले रूपको देखा॥१०-११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

यदि एक हजार सूर्यकी प्रभा एक साथ आकाशमें उदित हो, तो कदाचित् वह प्रभा उन महात्मा जे विश्वरूपकी प्रभाके समान हो॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥

उस समय अर्जुनने देवोंके देव विश्वरूपके उस विराट शरीरमें अनेक रूपोंमें विभक्त समग्र विश्वको एकत्र स्थित देखा॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥१४॥

उसके बाद वे अर्जुन विस्मित और रोमाञ्चित होकर मस्तक द्वारा प्रणामकर कृताञ्जलिपूर्वक विश्वरूपधारी श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहने लगे॥१४॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्गान्।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥१५॥

अर्जुनने कहा—हे देव! मैं आपके शरीरमें समस्त देवताओं, अनेक जीवसमुदाय, कमलासनपर विराजमान ब्रह्मा, शिव, सभी दिव्य ऋषियों तथा सर्पोंको देख रहा हूँ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रेन पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! आपके असंख्य बाहु, उदर, मुख और चक्षुवाले अनन्त रूपोंको सर्वत्र ही देखता हूँ, पुनः आपका आदि, मध्य और अन्त—कुछ भी नहीं देखता हूँ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

मैं मुकुट, गदा और चक्रसे युक्त, पूर्णरूपेण प्रकाशमान तेजपुञ्जस्वरूप, दुर्दर्शनीय, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके समान ज्योतिर्मय और अपरिसीम आपको सर्वत्र देखता हूँ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

आप मुक्त पुरुषोंके जानने योग्य परम अक्षरतत्त्व (परब्रह्म) हैं, आप इस विश्वके परम आश्रय हैं, आप अविनाशी और सनातन धर्मरक्षक हैं तथा आप सनातन पुरुष हैं—ऐसा मेरा मत है॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

मैं आदि-मध्य-अन्तरहित, अनन्त वीर्यशाली, अनन्त भुजायुक्त, चन्द्र-सूर्य जैसे नेत्रयुक्त, प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले तथा अपने तेजसे इस विश्वको सन्ताप देनेवाले आपको देखता हूँ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

अकेले आपसे ही स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका भाग अर्थात् अन्तरिक्ष तथा सभी दिशाएँ व्याप्त हैं। हे महात्मन्! आपकी इस अद्भुत मूर्तिको देखकर तीनों लोक अत्यन्त भयभीत तथा व्यथित हो रहे हैं॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्धीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

ये समस्त देवगण आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं, कोई कोई भयभीत होकर हाथ जोड़कर स्तव कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धगण स्वस्ति वाक्योंका उच्चारणकर प्रचुर मनोरम स्तवोंके द्वारा आपका दर्शन कर रहे हैं॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

जो (ग्यारह) रुद्र और (बारह) आदित्यगण, अष्ट वसु, साध्य देवगण, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगण हैं—वे सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहुरूपादम्।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहो! अनेक नेत्रोंवाले, असंख्य बाहु, उरु और पैरोंवाले, अनेक उदरोंवाले तथा अनेक दातोंके कारण विकराल आपके विराट रूपको देखकर सभी लोग तथा मैं अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं

व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

हे विष्णो! आकाशव्यापी, तेजोमय, अनेक वर्णोंवाले, फैलाये हुए मुखोंवाले तथा प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले आपको देखकर भयभीत

अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और शान्ति नहीं पाता हूँ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

आपके विकराल दाँतोंको तथा प्रलयकालीन अग्निके समान मुखोंको देखकर ही मैं दिशाओंका निर्णय नहीं कर पाता हूँ और सुख भी नहीं प्राप्त करता हूँ। अतः हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

ये धृतराष्ट्रके पुत्रगण समस्त राजाओंको सङ्गकर भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्षके योद्धागण सहित ही आपकी ओर तीव्र गतिसे धावित होकर आपके विकराल दन्तयुक्त भयानक मुखगुहाओंमें प्रवेश कर रहे हैं, कोई कोई चूर्णितमस्तक होकर आपके दाँतोंके मध्यभागमें संलग्न दीख रहे हैं॥२६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति॥२८॥

जिस प्रकार नदियोंका जल अत्यधिक वेगसे समुद्रकी ओर अभिमुख होकर समुद्रमें ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार ये समस्त नरवीर सर्वत्र प्रज्वलित आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

जिस प्रकार पतङ्गें मरनेके लिए प्रबल वेगसे प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये लोग भी मरनेके लिए अति वेगसे आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।

तेजोभिरापूर्व जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

हे विष्णो! आप अपने प्रज्वलित मुखोंद्वारा समस्त लोकोंको ग्रास करते हुए उसे सभी ओरसे पुनः पुनः अवलेहन कर (चाट) रहे हैं। आपकी तीव्र ज्योति सम्पूर्ण जगत्को तेजके द्वारा व्याप्तकर सन्तप्त

कर रही है ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्रूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे देवश्रेष्ठ! आपको मेरा नमस्कार है, आप प्रसन्न हों। कृपया मुझे बतावें कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं? मैं आदि कारण आपको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता हूँ ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान्ने कहा—मैं लोकोंका नाश करनेवाला अत्युत्कट काल हूँ और लोकोंका संहार करनेके लिए ही अभी प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रतिपक्षमें जो योद्धागण हैं, वे तुम्हारे द्वारा हत हुए बिना भी जीवित नहीं रहेंगे ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतः तुम उठो और शत्रुओंको जीतकर कीर्ति लाभ करो एवं समृद्ध राज्यका भोग करो। ये समस्त योद्धागण मेरे द्वारा पूर्व ही निहत हो चुके हैं। अतः हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बन जाओ ॥३३॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

मेरे द्वारा पूर्व ही विनाशप्राप्त द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीर योद्धाओंका भी तुम वध करो, व्यथित मत होओ। तुम युद्धमें शत्रुओंको जीतोगे, अतः युद्ध करो ॥३४॥

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजयने कहा—भगवान् श्रीकेशवके इन वचनोंको श्रवणकर कम्पायमान अर्जुनने हाथ जोड़कर, नमस्कार कर तथा अत्यन्त भयभीत होते हुए पुनः प्रणामकर गद्गद होकर श्रीकृष्णसे कहा ॥३५॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

अर्जुनने कहा—हे हृषीकेश! आपके नाम, रूप, गुणादिके कीर्तनसे जगत् अत्यन्त हर्षित हो रहा है एवं आपके प्रति अनुरागको प्राप्त हो रहा है, राक्षसगण भयभीत होकर चारों ओर पलायन कर रहे हैं एवं सिद्धोंके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं—ये सभी युक्तियुक्त ही हैं ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन! हे देवेश! हे अनन्त! हे जगन्निवास! आप ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ तत्त्व, आदि सृष्टिकर्ता हैं। आप ही सत् और असत्से अतीत अक्षर तत्त्व ब्रह्म हैं, अतः वे आपको क्यों नहीं नमस्कार करेंगे? ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदिदेव, प्राचीनतम पुरुष, इस विश्वका एकमात्र लयस्थान, ज्ञाता और ज्ञेय तथा परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपके द्वारा यह विश्व व्याप्त है ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति तथा ब्रह्माके भी पिता हैं। अतः आपको मेरा हजारों बार नमस्कार है, पुनः पुनः नमस्कार है ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्वस्वरूप! आपको आगे, पीछे एवं सभी ओरसे नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य और महापराक्रमी! आप समस्त जगत्को व्याप्त किए हुए हैं, अतः आप सर्वस्वरूप हैं ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

आपकी इस महिमाको नहीं जानकर मैंने सखा मानकर प्रमादवश अथवा प्रणयवश हठपूर्वक आपको जो हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इत्यादिसे सम्बोधित किया है तथा हे अच्युत! परिहासके लिए एकान्तमें अथवा अन्यान्य बन्धुओंके समक्ष विहार, शयन, आसन, भोजनादिके समय आप मेरे द्वारा जो असम्मानित हुए हैं, उन सबके लिए मैं आपसे अपरिसीम क्षमा-याचना करता हूँ॥४१-४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः॥४३॥

हे अनुपम प्रभावविशिष्ट! आप इस चराचर विश्वके पिता, पूज्य, गुरु और गुरुश्रेष्ठ हैं। तीनों लोकोंमें जब आपके समान ही कोई नहीं है, तो भला आपसे बढ़कर कहाँसे होगा?॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥४४॥

इसलिए मैं आपके चरणोंमें अपने शरीरको प्रणिपातकर प्रणाम करते हुए स्तुत्य आप परमेश्वरसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जैसे पिता पुत्रको, सखा सखाको तथा प्रिय अपनी प्रियाको क्षमा कर देते हैं, वैसे ही आप भी क्षमा करनेमें समर्थ हैं॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥४५॥

हे देव! पहले कभी न देखे हुए आपके इस रूप (विश्वरूप) को देखकर मैं आनन्दित हो रहा हूँ। हे देवेश! आप अपना वही रूप (चतुर्भुज रूप) मुझे दिखावें। हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥४६॥

मैं आपको उस मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी रूपमें ही देखनेकी इच्छा करता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप उस चतुर्भुज रूपमें ही प्रकट होवें॥४६॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपने आत्मयोग-बलसे

तुम्हें तेजोमय, विश्वरूपी, अनन्त, आदि इस श्रेष्ठ रूपको दिखाया, जो तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा पहले नहीं देखा गया॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

हे कुरुप्रवीर! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपस्याओंके द्वारा इस लोकमें ऐसे विश्वरूपविशिष्ट मुझको दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

मेरे इस भयङ्कर रूपको देखकर तुम भय और विमूढ भावको नहीं प्राप्त होओ। तुम पुनः भयरहित होकर तथा प्रीतियुक्त मनवाला होकर मेरे उसी चतुर्भुज रूपका प्रकृष्ट रूपमें दर्शन करो॥४९॥

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥५०॥

संजयने कहा—महात्मा वासुदेव श्रीकृष्णने ऐसा कहकर अर्जुनको पुनः अपने उसी चतुर्भुज रूपको दिखाया। उन्होंने पुनः प्रसन्नमूर्ति धारणकर भयभीत अर्जुनको आश्वस्त किया॥५०॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

अर्जुनने कहा—हे जनार्दन! आपके इस मनोहर नराकार रूपको देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त हो गया तथा अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त हो गया॥५१॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

श्रीभगवान्ने कहा—तुमने मेरे जो इस अत्यन्त दुर्लभ रूपका दर्शन किया, देवगण भी इसके दर्शनकी नित्य अभिलाषा करते हैं॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा॥५३॥

एकादशोऽध्यायः

तुमने जिस रूपमें मुझे देखा, इस रूपमें मैं न वेद, तपस्या तथा दानके द्वारा और न ही यज्ञके द्वारा दर्शनीय हूँ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्याया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥५४॥

हे परन्तप अर्जुन! एकमात्र अनन्या भक्तिके द्वारा ही ऐसा रूपविशिष्ट मैं तत्त्वतः जानने, देखने और प्रवेश करनेमें समर्थ हुआ जाता हूँ॥ ५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करते हैं, मेरे परायण हैं, मेरे श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके विविध अङ्गोंका पालन करनेवाले हैं, आसक्तिरहित हैं तथा सभी भूतोंके प्रति राग-द्वेषरहित हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं॥५५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
‘विश्वरूपदर्शनयोगो’ नाम एकादशोऽध्यायः।

एकादश अध्याय समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुनने कहा—आपके पूर्वोक्त उपदेशानुसार जो भक्तयोगी निष्ठायुक्त होकर निरन्तर श्यामसुन्दर रूपकी उपासना करते हैं तथा जो निर्विशेष अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ योगवेत्ता हैं? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो निर्गुण श्रद्धाके साथ मेरे श्यामसुन्दर स्वरूपमें मनोनिवेशकर अनन्य भक्तिसहित निरन्तर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ योगविद् हैं, यही मेरा अभिमत है ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।

सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

किन्तु, जो इन्द्रियोंको संयमितकर सभी वस्तुओंमें समदृष्टिसम्पन्न होकर एवं सभी भूतोंके कल्याणमें रत होकर अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य मेरे निर्विशेष अक्षर ब्रह्मस्वरूपकी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपमें आसक्तचित्त व्यक्तियोंको अधिकतर क्लेश होता है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक निष्ठा दुःखपूर्वक प्राप्त होती है ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितत्वेतसाम्॥७॥

किन्तु जो समस्त कर्म मेरी प्राप्तिके लिए अर्पितकर मेरे परायण होकर अनन्य भक्तियोगसे मेरा ध्यान करते हुए मुझे भजते हैं, हे पार्थ! मुझमें आसक्तचित्त उन लोगोंको शीघ्र ही मैं इस मृत्युरूप संसार-सागरसे पार कर देता हूँ॥६-७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

श्यामसुन्दराकार मुझमें ही मनको स्थिर करो, मुझमें बुद्धिको अर्पित करो, इस प्रकारसे देहके अन्त होनेपर मेरे समीप ही वास करोगे—इसमें कोई सन्देह नहीं है॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

हे धनञ्जय! और यदि तुम मुझमें चित्तको स्थिर भावसे स्थापित नहीं कर सकते हो, तो अभ्यासयोग द्वारा मुझे पानेकी इच्छा करो॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

यदि तुम अभ्यासयोगमें भी असमर्थ होओ, तो मेरे कर्मपरायण होओ। मेरी प्रीतिके लिए श्रवण-कीर्तन आदि कर्मोंको करनेसे ही तुम सिद्धि लाभ करोगे॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

यदि तुम इस अभ्यास योगको करनेमें भी अक्षम होओ, तो मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पणरूप योगका आश्रयकर संयतचित्तसे समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

क्योंकि, अभ्याससे श्रेष्ठ ज्ञान (मयि बुद्धिं निवेशय—इस सन्दर्भमें कथित 'ध्यान प्रतिपादक शास्त्राजनुशीलनरूप' मनन) है, इस ज्ञानकी अपेक्षा मेरा स्मरणरूप ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे कर्मफलत्याग होता है अर्थात्

स्वर्गादि सुख और मोक्षकी आकांक्षा नहीं रहती है तथा त्यागके बाद शान्ति प्राप्त होती है ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

सभी भूतोंके प्रति द्वेषरहित, मित्रभावापन्न, कृपालु, पुत्र-कलत्रादिमें ममताशून्य, देह आदिमें अहङ्कारशून्य, सुख तथा दुःखमें समभावापन्न, क्षमाशील, सर्वदा प्रसन्नचित्त, भक्तियोगयुक्त, संयत इन्द्रियोंवाले, दृढसङ्कल्पवान् और मुझमें मन, बुद्धि अर्पण करनेवाले मेरे जो भक्त हैं, वे मेरे प्रिय हैं ॥१३-१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिनसे कोई उद्वेगको नहीं प्राप्त होते तथा जो किसीसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होते एवं जो प्राकृत हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेगसे मुक्त हैं, वे मेरे प्रिय हैं ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

व्यवहारिक कार्योंमें अपेक्षाशून्य, पवित्र, निपुण, अनासक्त उद्वेगरहित एवं भक्ति-प्रतिकूल समस्त उद्यमोंसे रहित मेरे जो भक्त हैं, वे मेरे प्रिय हैं ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो लौकिक प्रियवस्तुके प्राप्त होनेपर हर्षित नहीं होते हैं और न अप्रिय वस्तुके प्राप्त होनेपर द्वेष करते हैं, जो प्रिय वस्तुके नष्ट होनेपर शोक नहीं करते हैं और अप्राप्त वस्तुकी आकांक्षा भी नहीं करते हैं, जो पाप तथा पुण्य—दोनोंका परित्याग करनेवाले हैं एवं जो मेरे प्रति भक्तिमान् हैं, वे भक्त ही मेरे प्रिय हैं ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥१९॥

जो भक्तिमान् मनुष्य शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण सुख-दुःखमें समभावापन्न हैं; जिनकी वाणी संयत है; जो कुछ प्राप्त होता है, उसीसे सन्तुष्ट रहते हैं; गृहासक्तिरहित तथा स्थिरबुद्धिवाले हैं; वे मेरे प्रिय हैं॥१८-१९॥

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

और जो उक्त उस धर्मरूप अमृतकी उपासना करते हैं, वे सभी श्रद्धावान् मेरे परायण भक्तगण मुझे अत्यन्त प्रिय हैं॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।

द्वादश अध्याय समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।

एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥१॥

अर्जुनने कहा—हे केशव! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय—इन सबको जाननेकी इच्छा करता हूँ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र' नामसे अभिहित होता है तथा जो इसे जानते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्तिगण उन्हें 'क्षेत्रज्ञ' नामसे अभिहित करते हैं॥२॥

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥३॥

हे भारत! समस्त क्षेत्रोंमें मुझे ही क्षेत्रज्ञ जानो। देहरूप क्षेत्र तथा जीव और ईश्वररूप क्षेत्रज्ञका जो तत्त्वज्ञान है, मेरे मतमें वही ज्ञान है॥३॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥४॥

वह क्षेत्र क्या है, वह कैसा है, उसका विकार कैसा है, वह किस प्रयोजनसे, किससे उत्पन्न हुआ है एवं वह क्षेत्रज्ञ जिस स्वरूपवाला तथा प्रभाववाला है, ये सब मुझसे संक्षेपमें सुनो॥४॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥५॥

वह तत्त्व ऋषियोंके द्वारा अनेक प्रकारसे वर्णित हुआ है, विविध वेदवाक्यों द्वारा पृथक्-पृथक् रूपसे कीर्तित हुआ है एवं युक्तिपूर्ण, निश्चित सिद्धान्तयुक्त वाक्योंमें ब्रह्मसूत्रके पदों द्वारा भी कीर्तित हुआ है॥५॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।

इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥६॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥७॥

पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति, एकादश इन्द्रियाँ, शब्द-स्पर्शादि पाँच इन्द्रियोंके विषय (तन्मात्राएँ); इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, ज्ञान और धैर्य—इन छः विकारोंके साथ संक्षेपमें क्षेत्रके विषयमें कहा गया ॥ ६-७ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमर्हिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥८॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥९॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१२॥

मानशून्यता, दम्भहीनता, अर्हिंसा, क्षमा, सरलता, सद्गुरुकी सेवा, अन्दर-बाहरकी पवित्रता, चित्तकी स्थिरता, देह-इन्द्रियोंका संयम, शब्द-स्पर्शादि विषयभोगोंसे वैराग्य, अहङ्कारशून्यता, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख इत्यादिमें दुःखरूप दोषका अनुदर्शन, पुत्र-स्त्री-गृहादिमें आसक्तिका त्याग और दूसरेके सुख-दुःखमें आवेशका अभाव, प्रिय-अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें चित्तका सम रहना और मुझमें ऐकान्तिक निष्ठापूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जनवासमें प्रीति, विषयासक्त मनुष्योंके संघमें अरुचि, आत्मविषयक ज्ञानकी नित्य आलोचना, तत्त्वज्ञानके प्रयोजन मोक्षकी आलोचना—ये सब ज्ञान कहे गए हैं और जो इनके विपरीत हैं, वे अज्ञान हैं ॥८-१२॥

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३॥

जो जानने योग्य है तथा जिसे जानकर मोक्ष प्राप्त होता है, उसे भलीभाँति कहूँगा—वह आदिरहित, मेरा आश्रित ब्रह्म कार्यातीत और

कारणातीत कहा जाता है॥१३॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१४॥

वे ब्रह्म सर्वत्र हाथ, पैर, चक्षु, मस्तक, मुख और कानवाला है तथा जगत्में सभी वस्तुओंको व्याप्तकर स्थित है॥१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१५॥

वह ज्ञेय वस्तु सभी इन्द्रियों एवं गुणोंका प्रकाशक है, किन्तु स्वयं प्राकृत (जड़) इन्द्रियोंसे रहित है, वह अनासक्त होकर भी सबका पालक प्राकृत गुणरहित होनेपर भी षडैश्वर्य गुणोंका भोक्ता है॥१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१६॥

वह तत्त्व वस्तु सभी भूतोंके अन्दर और बाहर वत्तमान है, उससे ही स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् है, अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह दुर्ज्ञेय है तथा एक ही साथ दूर और निकटमें स्थित है॥१६॥

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१७॥

वह वस्तु अविभक्त (अखण्ड) होकर भी सभी भूतोंमें विभक्त (खण्ड) की भाँति अवस्थित है। तुम उसे सभी भूतोंका पालक, संहारक तथा सृष्टिकर्ता जानो॥१७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१८॥

वह सभी ज्योतिर्मय वस्तुओंका भी प्रकाशक है, वह अज्ञानसे अतीत है, वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है, तथा सबके हृदयमें अधिष्ठित है॥ १८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१९॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेपमें कहे गए। मेरे भक्त इन सबसे अवगत होकर प्रेमभक्ति प्राप्त करनेके योग्य होते हैं॥१९॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥२०॥

प्रकृति एवं पुरुष दोनोंको ही अनादि जानो एवं विकारसमूह और गुणसमूहको प्रकृतिसे ही उत्पन्न जानो ॥२०॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

जड़ीय कार्य और कारणके कर्तृत्वके विषयमें प्रकृतिको हेतु कहा जाता है तथा जड़ीय सुख-दुःख आदिके भोक्तृत्वके विषयमें पुरुष अर्थात् बद्धजीवको ही हेतु कहा जाता है ॥२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

प्रकृतिमें अवस्थित होकर ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न विषयसमूहका भोग करता है तथा प्रकृतिके गुणोंका संग ही सत्-असत् योनियोंमें इस पुरुषके जन्मका कारण है ॥२२॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२३॥

इस देहमें जीवामात्मासे भिन्न पुरुष साक्षी, अनुमोदनकारी, धारक, पालक, महेश्वर और परमात्मा इत्यादि भी कहे जाते हैं ॥२३॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च च गुणैः सह।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

जो इस प्रणालीसे पुरुष-तत्त्व (परमात्मा), सगुण माया प्रकृति और जीव-तत्त्वसे अवगत होते हैं, वे जड़जगत्में अवस्थान करनेपर भी पुनर्जन्म नहीं प्राप्त करते हैं ॥२४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥

भक्तगण भगवत्-चिन्ता द्वारा स्वयं ही हृदयमें परम पुरुषका दर्शन करते हैं। ज्ञानिगण सांख्ययोग द्वारा, योगिगण अष्टाङ्गयोग द्वारा एवं कोई कोई निष्काम कर्मयोग द्वारा भी उनके दर्शनकी चेष्टा करते हैं ॥२५॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

किन्तु, कुछ अन्य लोग इस प्रकार तत्त्वको न जानकर अन्य आचार्योंके निकट उपदेश श्रवणकर उपासना करते हैं, वे भी श्रवणनिष्ठ होकर क्रमशः मृत्युरूप संसारका अवश्य अतिक्रमण करते हैं ॥२६॥

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥२७॥

हे भरतर्षभ! जो भी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं—ऐसा जानो॥२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२८॥

जो सभी भूतोंमें समभावसे अवस्थित, विनाशशीलोंमें अविनाशी परमेश्वरको देखते हैं, वे ही यथार्थदर्शी हैं॥२८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२९॥

क्योंकि, वे सभी भूतोंमें समभावसे सम्यक् रूपेण अवस्थित परमेश्वरको देखकर मनके द्वारा स्वयंको अधःपतित नहीं करते हैं, इसीलिए परम गति प्राप्त करते हैं॥२९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥३०॥

जो सभी कर्मोंको प्रकृतिके द्वारा ही सम्पादित देखते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखते हैं, वे ही यथार्थमें देखते हैं॥३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥३१॥

जब वे भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक ही प्रकृतिमें स्थित और उस प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान पाते हैं, तब वे ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं॥३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३२॥

हे कौन्तेय! अनादि तथा निर्गुण होनेके कारण ये अव्यय परमात्मा शरीरमें स्थित होकर भी न कर्म करते हैं और न ही कर्मफलसे लिप्त होते हैं॥३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३३॥

जिस प्रकार सर्वत्र अवस्थित आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण देहमें अवस्थित आत्मा भी दैहिक गुण-

दोषादिसे लिप्त नहीं होता है ॥३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

हे भारत! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा समग्र देहको प्रकाशित करता है ॥३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।

भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३५॥

जो इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेद एवं ज्ञानचक्षु द्वारा प्रकृतिसे भूतगणके मोक्षके उपायसे अवगत होते हैं, वे परमपद प्राप्त करते हैं ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'प्रकृति-पुरुषविवेकयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

त्रयोदश अध्यायः समाप्त ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—सभी ज्ञान-साधनोंमें अत्युत्तम एक ज्ञान-उपदेश तुम्हें कहूँगा, जिसे जानकर मुनिगण इस देहबन्धनसे परामुक्ति प्राप्त किए हैं॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२॥

इस ज्ञानका आश्रयकर मुनिगण मेरे सारूप्य-धर्मको प्राप्तकर सृष्टिकालमें जन्म ग्रहण नहीं करते हैं तथा प्रलयकालमें मृत्यु-यन्त्रणा भी भोग नहीं करते हैं॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥३॥

हे भारत! महत्-ब्रह्मरूपी प्रकृति मेरी योनि अर्थात् गर्भाधान स्थान है। उसमें मैं तटस्थ प्रभावरूप जीव (बीज) का आधान करता हूँ। उससे ही समस्त जीवोंका जन्म होता है॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥४॥

हे कुन्तीनन्दन! देव, पशु इत्यादि समस्त योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, महत्-ब्रह्म अर्थात् प्रकृति उनकी योनि अर्थात् जननीस्वरूपा है और मैं बीज आधानकर्ता पितास्वरूप हूँ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण शरीरमें अवस्थित निर्विकार देही अर्थात् जीवको बाँधते हैं॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥६॥

हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें से निर्मल होनेके कारण प्रकाशक तथा दोषरहित शान्त सत्त्वगुण ज्ञान और सुखके सङ्ग द्वारा जीवको आबद्ध करता है ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे कुन्तीपुत्र! रजोगुणको रागात्मक और विषयोंके अभिलाष तथा आसक्तिसे उत्पन्न जानो। वह रजोगुण कर्मकी आसक्ति द्वारा जीवको बाँधता है ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

किन्तु हे भारत! अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुणको सभी जीवोंका मोह जानो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा देहीको आबद्ध करता है ॥८॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें तथा रजोगुण कर्ममें आसक्त करता है, किन्तु तमोगुण ज्ञानको आच्छन्नकर मनोयोगहीनतामें संयुक्त करता है ॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत! रजोगुण और तमोगुणको पराभूतकर सत्त्वगुण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सत्त्व और तमोगुणको पराभूतकर रजोगुण एवं सत्त्व तथा रजोगुणको पराभूतकर तमोगुण उत्पन्न होता है ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

जिस समय इस देहमें कर्ण-नासिकादि ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारमें विषयके स्वरूप-प्रकाशरूप ज्ञानका उदय होता है, उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है और सुख-प्रकाशरूप चिह्न द्वारा भी सत्त्वगुणकी वृद्धिको जानना चाहिए ॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ ! लोभ, नाना यत्नपरता, कर्मोंका आरम्भ, भोगमें अशान्ति और विषय-भोगकी अभिलाषा, ये सब रजोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

हे कुरुनन्दन ! विवेकका अभाव, प्रयत्नहीनता, अन्यमनस्कता, मिथ्या अभिनिवेश आदि—ये सब तमोगुणकी वृद्धि होनेपर उत्पन्न होते हैं॥ १३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

और, जब कोई सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर शरीर छोड़ता है, तो वह हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके सुखप्रद (रजोगुण और तमोगुणसे रहित) लोकोंको प्राप्त करता है॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

जो जीव रजोगुणके बढ़नेपर देहत्याग करता है, वह कर्ममें आसक्त मनुष्योंके बीच जन्म लेता है, इसी प्रकार तमोगुणके बढ़नेपर देहत्याग करनेवाला पशु आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

पण्डितगण ऐसा कहते हैं कि सात्त्विक कर्मका सुखमय सात्त्विक फल होता है, राजसिक कर्मका दुःखमय फल तथा तामसिक कर्मका अज्ञानमय फल होता है॥१६॥

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

सतोगुणी व्यक्तिगण ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणी व्यक्तिगण मनुष्यलोकमें रहते हैं एवं आलस्य-प्रमादादि परायण तमोगुणी व्यक्तिगण

नीचेके लोकोंमें जाते हैं॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

जिस समय जीव तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ताके रूपमें नहीं देखता है और गुणोंसे अतीत आत्माको जान पाता है, उस समय वह भावरूपी शुद्धभक्तिको प्राप्त करता है॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥२०॥

जीव देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है॥२०॥

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते॥२१॥

अर्जुनने कहा—हे प्रभो! तीनों गुणोंसे अतीत व्यक्तिके क्या लक्षण हैं, उनके क्या आचार होते हैं एवं किस उपायसे वे तीनों गुणोंको पार करते हैं?॥२१॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥२५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पाण्डव! जो प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोहके स्वतः प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करते तथा उनकी निवृत्तिकी भी अभिलाषा नहीं करते हैं, जो उदासीनकी भाँति अवस्थित हैं और गुणके कार्य सुख-दुःख आदिसे विचलित नहीं होते हैं, गुणसमूह अपने अपने कार्योंमें प्रवृत्त हो रहे हैं—ऐसा जानकर स्थिर रहते हैं तथा चञ्चल नहीं होते हैं, जो सुख-दुःखको समान समझते हैं, स्वरूपनिष्ठ

चतुर्दशोऽध्यायः

हैं, मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझते हैं, बुद्धिमान् हैं, अपनी निन्दा-स्तुतिमें समान भाववाले हैं, मित्र और शत्रुके प्रति समान हैं, देहधारणके अतिरिक्त सभी कर्मोंका परित्याग करनेवाले हैं, वे गुणातीत कहलाते हैं ॥२२-२५॥

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो ऐकान्तिक भावसे श्यामसुन्दराकार मुझ परमेश्वरकी ही भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको पारकर ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि, मैं ब्रह्म (निर्विशेष), अव्यय मोक्ष, सनातन धर्म और ऐकान्तिक भक्तिसम्बन्धी प्रेमरूप सुखकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

चतुर्दश अध्याय समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—यह संसार ऊपरकी ओर जड़वाला तथा नीचेकी ओर शाखाओंवाला अश्वत्थ वृक्षविशेष है—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है। कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वे वाक्यसमूह जिसके पत्ते हैं, जो उसे जानते हैं, वे वेदज्ञ हैं ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

तीनों गुणों द्वारा वर्द्धित उस संसारवृक्षके विषयरूप पल्लवयुक्त शाखाएँ मनुष्य, पशु आदि निम्न योनियोंमें तथा देवता आदि उच्च योनियोंमें फैली हुई हैं। कर्मप्रवाहजनक भोगवासनारूप जटाएँ नीचेकी ओर सर्वदा विकसित हो रही हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इस जगत्में संसारवृक्षका स्वरूप पूर्वोक्त प्रकारसे नहीं उपलब्ध होता है, इसका आदि और अन्त नहीं देखा जाता है तथा इसकी स्थिति भी समझमें नहीं आती है। अत्यन्त दृढ़ मूलवाले इस संसारवृक्षको तीव्र वैराग्यरूप कुठारसे छेदन करनेके पश्चात् संसारके मूल उस श्रीभगवत्-पादपद्मका अन्वेषण करना कर्त्तव्य है। जो पद प्राप्त होनेपर पुनः संसारमें प्रत्यावर्तन नहीं करना होता है, जिनसे यह अनादि संसार-प्रवाह विस्तृत हुआ है, उस आदि पुरुषके शरणागत होता हूँ—इस प्रकारकी भावनाकर उनके प्रति शरणागत होना चाहिए ॥३-४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

गर्व तथा मोहशून्य, आसक्तिरूप दोषसे रहित, आत्म-अनुशीलनमें तत्पर, भोगकी अभिलाषासे रहित, सुख-दुःख नामक द्वन्द्वसे रहित मुक्त पुरुषगण उस अव्यय पदको प्राप्त करते हैं॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥६॥

जिस वस्तुको प्राप्तकर शरणागत व्यक्तियोंका पुनरागमन नहीं होता है, वह मेरा सर्वप्रकाशक तेज है, उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादि कोई प्रकाशित नहीं कर सकता है॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

मेरा ही विभिन्नांश, सनातन जीव इस जगत्में प्रकृतिमें स्थित होकर मन और पाँच इन्द्रियोंको आकर्षित करता है॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥८॥

इन्द्रियोंका स्वामी देही जीव जिस शरीरको प्राप्त करता है और जिस शरीरसे बहिर्गत होता है, अपने छः इन्द्रियोंके साथ उसी प्रकार गमन करता है, जिस प्रकार वायु पुष्पादिसे गन्ध लेकर गमन करती है॥८॥

श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥९॥

यह जीव कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मनका आश्रयकर शब्द आदि विषयोंका उपभोग करता है॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१०॥

अविवेकी मूढ़ लोग देहसे जानेके समय अथवा रहते समय अथवा विषय-भोगके समय इन्द्रियोंसे समन्वित इस जीवको नहीं देख पाते हैं, किन्तु विवेकी लोग इसे देख पाते हैं॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

यत्नशील, योगयुक्त लोग शरीरमें स्थित इस आत्माको देखते हैं, किन्तु अशुद्धचित्त, अविवेकी लोग यत्न करनेपर भी इसे नहीं देखते हैं॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका जो तेज समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, उस तेजको मेरा ही जानो॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

और, मैं ही अपनी शक्ति द्वारा पृथ्वीमें अधिष्ठित होकर चर-अचर प्राणिमात्रको धारण करता हूँ। मैं ही अमृतमय चन्द्र होकर समस्त औषधियोंको पुष्ट करता हूँ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

मैं जठराग्नि होकर प्राणियोंके शरीरका आश्रयकर प्राण-अपान वायुके संयोगसे चार प्रकारके अन्नोको पचाता हूँ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

मैं सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीके रूपमें प्रविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा दोनोंका नाश होता है। सभी वेदोंमें एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्तकर्ता और वेदज्ञ हूँ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

क्षर और अक्षर—ये दो पुरुष-तत्त्व चौदह लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। इनमें से चराचर भूतसमूहको क्षर और कूटस्थ पुरुषको अक्षर कहा जाता है॥ १६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

किन्तु, पूर्वोक्त क्षर और अक्षर तत्त्वसे भिन्न एक अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा कहलाते हैं, जो ईश्वर और निर्विकार हैं तथा तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं॥१७॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

क्योंकि मैं क्षरसे भी अतीत तथा अक्षरसे भी श्रेष्ठ हूँ, अतः जगत्में और वेदमें पुरुषोत्तमके नामसे प्रसिद्ध हूँ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

हे भारत! जो इस प्रकार मोहशून्य होकर मुझे पुरुषोत्तम जानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं, एवं सभी प्रकारसे मुझे ही भजते हैं॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अतिरहस्यपूर्ण शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर बुद्धिमान् लोग और भी कृतार्थ हो जाते हैं॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

पञ्चदश अध्याय समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे भारत ! अभयता, चित्तकी प्रसन्नता, ज्ञानके उपायमें निष्ठा, दान, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, क्रोधशून्यता, स्त्री-पुत्र आदिमें ममताका त्याग, शान्ति, परनिन्दाशून्यता, दया, लोभशून्यता, मृदुता, लज्जा, अचपलता, तेज क्षमा, धैर्य, बाह्य और अन्दरकी शुद्धि, द्रोहशून्यता, अभिमानशून्यता—ये सब गुण दैवी सम्पदके साथ उत्पन्न व्यक्तिमें प्रकट होते हैं अर्थात् शुभक्षणमें जन्म होनेपर ये सब प्राप्त होते हैं ॥१-३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अविवेक आसुरी सम्पदके अभिमुख उत्पन्न व्यक्तिमें होते हैं अर्थात् असत्-जात व्यक्तिको ये आसुरी सम्पदप्राप्त होते हैं ॥४॥

दैवी सम्पद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पदको मोक्षका कारण तथा आसुरी सम्पदको बन्धनका कारण कहा जाता है। हे पाण्डव ! तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पदको लक्ष्यकर उत्पन्न हुए हो ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे पार्थ ! इस संसारमें दो प्रकारकी भूतसृष्टि है—दैवी और आसुरी। दैवी प्रकृतिके विषयमें विस्तारसे कहा गया है। अभी मेरे निकट

आसुरी प्रकृतिके विषयमें सुनो ॥६॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असुर लोग धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति नहीं जानते हैं। उनमें शौच, आचार तथा सत्य नहीं होता है ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥८॥

वे लोग जगत्को मिथ्या, आश्रयहीन, ईश्वरशून्य, एक दूसरेके संसर्गसे अथवा स्वतः उत्पन्न कहते हैं। इतना ही नहीं वे इसे केवल काममूलक कहते हैं ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

इस आसुर दर्शन अथवा सिद्धान्तका आश्रयकर आत्मतत्त्वहीन, देहात्माभिमान, हिंसादि कर्मपरायण असुरगण जगत्के ध्वंसके लिए जन्म लेते हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।

मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्रान्धान् प्रवर्तन्तेऽशुचित्रताः ॥१०॥

वे लोग कभी न पूर्ण होनेवाली वासनाओंका आश्रयकर दम्भ, मान और मदयुक्त होकर मोहवश असत्-विषयोंमें आग्रहयुक्त होकर तथा भ्रष्ट आचरणोंको लेकर क्षुद्र देवताओंकी आराधनामें प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

मृत्युपर्यन्त असीम चिन्ताका आश्रयकर, 'कामका उपभोग ही चरम कार्य है'—इस प्रकार निश्चयकर सैकड़ों आशाओंमें आबद्ध, काम और क्रोधपरायण वे व्यक्तिगण कामभोगके लिए अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहकी चेष्टा करते हैं ॥११-१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

वे ऐसा सोचते हैं—आज मैंने यह प्राप्त किया, यह मनोरथ पूर्ण

करूँगा, यह मेरा है, पुनः यह धन भी मेरा होगा॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥१४॥

मेरे द्वारा ये शत्रुगण मारे गए हैं और अन्यको भी मारूँगा। मैं ईश्वर, भोक्ता, सिद्ध, बलवान और सुखी हूँ॥१४॥

आढ्योऽभिनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

मैं धनी और कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है; मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा और आनन्द प्राप्त करूँगा—वे अज्ञान द्वारा विमोहित होकर इस प्रकार कहते हैं॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

नाना मनोरथों द्वारा विक्षिप्त, मोहजालसे आवृत तथा विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त वे व्यक्तिगण अपवित्र नरकमें पतित होते हैं॥१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

स्वयं गर्वित, अनम्र, धनके कारण मान और मदसे युक्त वे असुरगण दम्भपूर्वक नाममात्र यज्ञ द्वारा अविधिपूर्वक यज्ञ करते हैं॥१७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१८॥

वे अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रयकर परमात्म-परायण साधुओंके देहमें अवस्थित मुझसे द्वेषकर साधुओंके गुणोंमें दोषोंका आरोप करते हैं॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१९॥

मैं साधुओंसे द्वेष करनेवाले, क्रूर और अशुभ कर्म करनेवाले तथा नराधम उन सबको संसारमें आसुरी योनियोंमें अनवरत निक्षेप करता हूँ (फेंकता हूँ)॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

हे कौन्तेय! जन्म-जन्ममें आसुरी योनि प्राप्तकर वे मूढ़ लोग मुझे नहीं

प्राप्त करनेके कारण ही उससे भी अधम गति प्राप्त करते हैं॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन आत्मनाशक नरकके द्वार हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिए॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

हे कौन्तेय! इन तीन नरकके द्वारोंसे मुक्त व्यक्ति आत्म-कल्याणका आचरण करते हैं, जिससे वे श्रेष्ठ गति प्राप्त करते हैं॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

जो शास्त्रीय विधियोंका उल्लंघनकर स्वेच्छाचारवश कार्यमें प्रवृत्त होता है, वह न तो सिद्धि, न सुख और न ही परागतिको प्राप्त करता है॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

अतएव कार्य-अकार्यकी व्यवस्थाके विषयमें शास्त्र ही तुम्हारे लिए प्रमाण है। इस कर्तव्य-विषयमें शास्त्रमें उपदिष्ट कर्मसे अवगत होकर उसे करनेके निमित्त योग्य होओ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्याय समाप्तः।

षोडश अध्याय समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्रकी विधियोंको त्यागकर श्रद्धायुक्त होकर पूजा इत्यादि करते हैं, उनकी निष्ठा या स्थिति क्या है? वे सात्त्विक अथवा राजसिक या तामसिक क्या हैं?॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—मनुष्योंकी श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। वह पूर्वजन्मोंके संस्कारसे उत्पन्न होती है, उसे सुनो॥१॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३॥

हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने अपने अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, अतएव जो व्यक्ति जैसी पूज्य वस्तुमें श्रद्धा करता है, वह भी वैसा ही चित्तवाला होता है॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥४॥

सात्त्विक गुणवाले लोग देवताओंकी पूजा करते हैं, जो कि सात्त्विक हैं, रजोगुणवाले लोग यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं, जो कि राजसी हैं तथा तमोगुणवाले लोग भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं, जो कि तामसी हैं॥४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

माञ्जैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥६॥

दम्भ, अहङ्कार, काम, आसक्ति और बलसे युक्त जो अविवेकी लोग शरीरमें स्थित भूतसमूहको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझे क्षीणकर अशास्त्रीय विधिसे कठिन तपस्या करते हैं, उनको आसुरिक धर्ममें निष्ठित जानो ॥५-६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

जैसे आहार भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तपस्या और दान भी तीन प्रकारके होते हैं। उन सबके इस भेदको सुनो ॥७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ानेवाले रसयुक्त, स्निग्ध, स्थायी, हृदयग्राही आहारसमूह सात्त्विक प्रकृतिवालोंको प्रिय होते हैं ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

अधिक कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक, दुःख, शोक तथा रोगप्रद आहारसमूह राजस व्यक्तिको प्रिय हैं ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

एक प्रहर पहले बना हुआ ठंडा, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट (जूठा) और अपवित्र आहारसमूह तामस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥१०॥

अफलाङ्गिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

‘यज्ञका अनुष्ठान कर्त्तव्य है’—इस प्रकार मनको एकाग्रकर फलकी कामनासे रहित व्यक्तिगण द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

किन्तु, हे भरतश्रेष्ठ! फलको उद्देश्यकर एवं दम्भके प्रकाश (अपनी महिमा दिखाने) के लिए जो यज्ञ किया जाता है, उसे राजस जानो ॥

१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धाहीन यज्ञको पण्डितगण तामस यज्ञ कहते हैं॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञगणकी पूजा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा शरीर-सम्बन्धी तप कहलाते हैं॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

उद्वेग नहीं देनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारी वचन एवं वेदपाठका अभ्यास—ये वाचिक तप हैं॥१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१६॥

चित्तकी प्रसन्नता, सरलता, मौन, चित्तका संयम, व्यवहारमें निष्कपटता—ये सब मानसिक तप कहलाते हैं॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

फलकामनारहित एकाग्रचित्त मनुष्य द्वारा परम श्रद्धाके साथ किए जानेपर पण्डितगण इन तीनों तपोंको सात्त्विक कहते हैं॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

सत्कार, मान, और पूजाके लिए दम्भके साथ जो तपस्याकी जाती है, वही अनित्य और अनिश्चित राजसिक तप है॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥

मूढोचित हठ द्वारा स्वयंको पीड़ितकर या दूसरेके विनाशके लिए जो तप किया जाता है, वह तामस कहलाता है॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको, तीर्थ आदि स्थानोंमें, पुण्यकालमें एवं योग्य पात्रको दान देना कर्त्तव्य है—इस प्रकार निश्चयकर जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

किन्तु, जो दान प्रत्युपकारकी आशासे, फलके उद्देश्यसे अथवा बादमें पछतावेके साथ दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान अयोग्य स्थान और अयोग्य समयमें तथा अयोग्य पात्रीको तिरस्कारपूर्वक तथा अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥२२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।

प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

ब्रह्मके तीन प्रकारके निर्देशक नाम कहे गए हैं—ॐ , तत् और सत्। इनके द्वारा प्राचीनकालमें ब्राह्मणगण, वेदसमूह और यज्ञसमूह निर्मित हुए हैं। अतएव 'ॐ' शब्दके उच्चारणसे वेदवादियोंके शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप, कर्म आदि सर्वदा अनुष्ठित होते हैं ॥२२-२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

मुमुक्षुगण 'तत्' शब्दका उच्चारणकर कर्मफलकी कामना नहीं करते हुए अनेक प्रकारके यज्ञ, तप, दान आदि कार्य करते हैं ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

हे पार्थ! ब्रह्मत्वमें और ब्रह्मवादित्वमें इस 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। उसी प्रकार माङ्गलिक कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

सप्तदशोऽध्यायः

यज्ञ, तपस्या, दान और इनके लिए निश्चयपूर्वक अवस्थानमें भी 'सत्' शब्दका व्यवहार होता है। ब्रह्मकी परिचर्याके उपयोगी मन्दिर-मार्जन इत्यादिको भी 'सत्' शब्दसे अभिहित किया जाता है॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे पार्थ! अश्रद्धापूर्वक जो होम, दान, तपस्या एवं अन्यान्य कर्म अनुष्ठित होते हैं, वे असत् कहे जाते हैं। वे न तो इस लोकमें और न ही परलोकमें फलदायक होते हैं॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

सप्तदश अध्याय समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१॥

अर्जुनने कहा—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ॥१॥

श्रीभगवानुवाच।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—निपुण पण्डितगण काम्य कर्मोंके स्वरूपतः त्यागको संन्यास जानते हैं और सभी कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥

सांख्यवादी कोई कोई मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, अतः ये त्यागने योग्य हैं। और दूसरे मीमांसक ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागो भरतसत्तम।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४॥

हे भरतश्रेष्ठ! उनमें से त्यागके सम्बन्धमें मेरा निश्चय सिद्धान्त श्रवण करो। हे पुरुषवर! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है॥४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥

यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म स्वरूपतः त्याज्य नहीं हैं, ये कर्तव्य कर्म हैं। यज्ञ, दान और तपस्या मनीषियोंके चित्तको शुद्ध करनेवाली हैं॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥

हे पार्थ! ये सभी कर्म भी कर्तापनके अभिमान और फलाकांक्षासे रहित होकर करना ही कर्तव्य है, यह मेरा निश्चित, उत्तम मत है॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥७॥

किन्तु, नित्य कर्मका संन्यास उचित नहीं है। मोहवश उसका परित्याग तामसिक कहलाता है॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८॥

जो दुःखजनक मानकर शारीरिक कष्टके भयसे कर्मका परित्याग करता है, वह राजस त्याग करते हुए त्यागके फलसे वञ्चित रहता है॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

हे अर्जुन! कर्तापनके अभिमान और फलकामनाको त्यागकर कर्तव्य समझकर जो नित्य कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग माना गया है॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

सत्त्वगुणसे सम्पन्न, स्थिर बुद्धिवाले और संशयरहित त्यागी दुःखजनक कर्मसे द्वेष नहीं करते और सुखजनक कर्ममें अनुरक्त नहीं होते॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

देहधारी जीवके लिए सभी कर्मोंका स्वरूपतः त्याग सम्भव नहीं है, किन्तु जो सभी कर्मोंके फलको त्यागनेवाले हैं, वे त्यागी हैं—ऐसा कहा जाता है॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१२॥

पूर्वाक्त त्यागरहित व्यक्तियोंके देहत्यागके बाद उन्हें तीन प्रकारका फल प्राप्त होता है—नारकित्व, देवत्व, और मनुष्यत्व। किन्तु, संन्यासियोंका कदापि ऐसा नहीं होता है॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

हे महाबाहो! कर्मको समाप्त करनेवाले वेदान्तशास्त्रमें सभी कर्मोंकी सिद्धिके लिए जो पाँच कारण कहे गए हैं, उन्हें मुझसे श्रवण करो॥ १२॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

देह, कर्ता, इन्द्रियाँ और विविध चेष्टाएँ तथा पञ्चम स्थानीय सर्वप्रेरक अन्तर्यामी—वेदान्तमें ये पाँच कारण कहे गए हैं॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

मानव काय, वाक्य और मनके द्वारा धर्मयुक्त या अधर्मयुक्त जो कुछ कर्म करता है, ये पाँच ही उसके कारण हैं॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलन्तु यः।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

ऐसा होनेपर भी जो व्यक्ति केवल आत्माको उन समस्त कर्मोंका कर्ता कहकर विचार करता है, असंस्कृत बुद्धिके होनेके कारण वह दुर्मति ठीक नहीं समझता है॥१६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

जिनका कर्तापनका अभिमान नहीं है और जिनकी बुद्धि कर्मफलमें आसक्त नहीं होती, वे समस्त प्राणियोंकी हत्या करनेपर भी वस्तुतः हत्या नहीं करते हैं एवं उस फलमें आबद्ध भी नहीं होते हैं॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

करणं कर्म कर्त्तृति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—ये तीन कर्मप्रवृत्तिके कारण हैं। करण, कर्म और कर्ता—ये तीन कर्मके आश्रय हैं॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ताच त्रिधैव गुणभेदतः।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

गुण-निरूपक सांख्य शास्त्रमें सात्त्विक आदिके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्ता भी तीन प्रकारके कहे गए हैं। तुम उन सबको भी यथावत् मुझसे सुनो॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

जिस ज्ञान द्वारा परस्पर भिन्न मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदिके शरीरमें नाना प्रकारके फलोंको भोगनेके लिए वर्तमान एक जीवात्माको अखण्ड और अव्यय रूपमें देखा जाय अर्थात् परस्पर भिन्न होनेपर भी चित्-गुणमें एक समान उपलब्ध किया जाय, उस ज्ञानको सात्त्विक जानो॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

किन्तु देव, मनुष्य आदि सभी जीवोंमें पृथक्-पृथक् रूपमें जीव-सम्बन्धी जो ज्ञान है, उसके द्वारा जीवको पृथक्जातीय और नाना अभिप्रायवाला उपलब्ध किया जाता है, ऐसे ज्ञानको राजसिक जानो॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।

अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

और जो ज्ञान स्नान-भोजन आदि दैहिक कार्योंको पूर्ण मानकर उसमें आविष्ट करा देता है, जो युक्तिरहित, तत्त्वार्थरहित और पशु आदिकी भाँति तुच्छ है, वह तामसिक ज्ञान कहलाता है॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥२३॥

जो नित्यकर्म फलकामनासे रहित व्यक्ति द्वारा आसक्तिशून्य होकर तथा राग-द्वेषसे रहित होकर किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म कहलाता है॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥

किन्तु, जो कर्म फलकी कामना करनेवाले तथा अहङ्कारी व्यक्ति द्वारा अत्यन्त क्लेशपूर्वक किया जाता है, वह राजसिक कहलाता है॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥२५॥

जो कर्म भावी क्लेश, धर्म-ज्ञान आदिके नाश, आत्मनाश या परपीड़नके लिए किया जाय तथा अपने सामर्थ्यकी आलोचना नहीं कर मोहवश किया जाय, वह तामसिक कहलाता है॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

फलकी कामनासे रहित, अहङ्कारशून्य, धैर्य और उत्साहवाला तथा कार्यकी सिद्धिमें निर्विकार रहनेवाला कर्ता ही सात्त्विक कर्ता कहलाता है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

कर्ममें आसक्त, कर्मफलकी कामना करनेवाला, विषयोंमें आसक्त, हिंसाप्रिय, शुचिहीन तथा हर्ष और शोकयुक्त कर्ता राजसिक कहलाता है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अनुचित कार्यप्रिय, स्वभावके अनुसार चेष्टायुक्त, अनम्र, शठ, दूसरेका अपमान करनेवाला, आलसी, शोकमग्न और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक कहलाता है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

हे धनञ्जय! गुणके अनुसार बुद्धि और धृतिके जो तीन भेद हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् सम्पूर्णरूपसे कहा जा रहा है, तुम श्रवण करो ॥२९॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय तथा बन्धन-मोक्षको जान सकती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है ॥३०॥

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।

अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ! जिसके द्वारा धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यको यथार्थतः नहीं जाना जा सकता, वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ! जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा सभी विषयोंका विपरीत अर्थ करती है, वह बुद्धि तमोगुणसे आच्छन्न होनेके कारण

तामसी है ॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ! योगाभ्यासपूर्वक जिस अव्यभिचारिणी धृति द्वारा पुरुष मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको नियमित करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ! हे अर्जुन! आसक्तिवश फलाकांक्षी होकर पुरुष जिस धृति द्वारा धर्म, काम और अर्थको धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अविवेकी-मेधायुक्त व्यक्ति जिस धृति द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और विषय-भोगसे उत्पन्न मदका त्याग नहीं करते, वह धृति तामसी कहलाती है ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब मुझसे तीन प्रकारके सुखके विषयमें श्रवण करो। जीव पुनः पुनः अभ्यास द्वारा जिस सुखमें रति प्राप्त करता है एवं जिसके द्वारा संसाररूप दुःखका अन्त होता है, वह सात्त्विक है ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो कोई सुख पहले विषके समान, किन्तु परिणाममें अमृतके समान है और आत्म-विषयक बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहलाता है ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह पहले तो अमृतके समान होता है, किन्तु परिणाममें विषके समान होता है। उस सुखको राजसिक सुख कहते हैं ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो सुख पहले तथा बादमें आत्माके स्वरूपको आवृत करनेवाला है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिसे उत्पन्न होता है, वह सुख तामसिक कहलाता है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीमें अर्थात् मनुष्य आदिमें अथवा स्वर्गमें, इतना ही नहीं देवगणमें भी वैसा कोई प्राणी या वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे मुक्त हो ॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार विभक्त हुए हैं ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये सब ब्राह्मणोंके स्वाभावसे उत्पन्न कर्म हैं ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीठ नहीं दिखाना, दान, लोक-नेतृत्वता—ये सभी क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं। दूसरेकी परिचर्यारूप कर्म शूद्रोंके लिए स्वाभाविक है ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अपने अपने अधिकारके अनुसार कर्ममें निरत मानव ज्ञान-योग्यतारूपी सिद्धि प्राप्त करते हैं। अपने आधिकारिक कर्ममें निरत व्यक्ति किस प्रकार सिद्धि लाभ करते हैं, उसे श्रवण करो ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

जिनसे जीवोंकी उत्पत्ति होती हैं, जिनसे यह समग्र जगत् व्याप्त है, मानव अपने कर्म द्वारा उन परमेश्वरका अर्चनकर सिद्धि प्राप्त करता है॥४६॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

उत्तमरूपसे अनुष्ठित दूसरेके धर्मकी अपेक्षा अनुत्तमरूपसे अनुष्ठित निकृष्ट स्वधर्म ही कल्याणजनक है। मानव स्वभावविहित कर्म कर किसी पापको प्राप्त नहीं होता॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

हे कौन्तेय! दोषयुक्त होनेपर भी स्वाभाविक कर्म नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि सभी कर्म दोषके द्वारा उसी प्रकार आवृत हैं, जिस प्रकार आग धुएँके द्वारा॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

प्राकृत वस्तुमात्रमें आसक्तिशून्य बुद्धिवाला, वशीकृत चित्तवाला और ब्रह्मलोक तकके सुख आदिमें स्पृहाशून्य व्यक्ति स्वरूपतः कर्मत्याग कर नैष्कर्म्यरूपी श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

हे कौन्तेय! सिद्धिप्राप्त व्यक्ति जिस उपायसे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, जो कि ज्ञानकी परमगति है, उस उपायको मुझसे संक्षेपमें सुनो॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

विशुद्ध बुद्धियुक्त होकर, धृति द्वारा मनको संयतकर, शब्द आदि

विषयसमूहका परित्यागकर, राग-द्वेष दूरकर, पवित्र निर्जन स्थानवासी होकर, अल्पाहारपूर्वक कायमनोवाक्य संयतकर, सर्वदा भगवत्-चिन्तापरायणतारूप योग और वैराग्यका आश्रयकर, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह त्यागपूर्वक, निर्मम और उपशम प्राप्त पुरुष ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं॥५१-५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतोंमें समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

मैं जिस प्रकार विभूतिसम्पन्न हूँ और मेरा जो स्वरूप है, उसे वे भक्ति द्वारा ही तत्त्वतः जान सकते हैं। उस प्रेमा-भक्तिके बलसे मुझे तत्त्वतः जानकर वे मेरी नित्य लीलामें प्रवेश करते हैं॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्ब्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

मेरे एकान्त भक्त सर्वदा समस्त कर्म करनेपर भी मेरी कृपासे नित्य, अव्यय वैकुण्ठधाम प्राप्त करते हैं॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

कर्तापनके अभिमानसे रहित चित्त द्वारा सभी कर्म मुझे समर्पितकर तथा मेरे परायण होकर निश्चयात्मिका बुद्धियोगका आश्रय करते हुए सर्वदा मुझमें चित्तवाला होओ॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

मेरे स्मरण परायण होनेसे मेरे अनुग्रहसे तुम समस्त दुर्ग अर्थात् विघ्न-बाधाओंसे उत्तीर्ण होओगे। और यदि तुम मेरी बातोंको नहीं सुनोगे, तो तुम संसाररूप नाश प्राप्त करोगे॥५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।

मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

अहङ्कारका आश्रयकर तुम यह जो सोच रहे हो कि युद्ध नहीं करूँगा, तुम्हारा यह सङ्कल्प मिथ्या ही साबित होगा। क्योंकि, रजोगुणत्मिका मेरी माया तुम्हें युद्धमें नियोजित करेगी ही॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

हे कौन्तेय! मोहवश अभी तुम जिस कार्यको नहीं करना चाहते हो, स्वभावजात स्वकर्म द्वारा नियन्त्रित होकर अवश्य ही उसे करनेके लिए प्रवृत्त होओगे॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

हे अर्जुन! सर्वान्तर्यामी परमात्मा सभी जीवोंके हृदयमें अवस्थान करते हैं और अपनी माया द्वारा यन्त्रारूढ़की भाँति जीवको संसार-चक्रमें भ्रमण कराते हैं॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

हे भारत! सभी प्रकारसे उन ईश्वरके ही शरणमें जाओ। उनकी कृपासे परम शान्ति और नित्यधाम प्राप्त करोगे॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३॥

इस प्रकार मेरे द्वारा तुम्हें गुह्यतर ज्ञान कहा गया। इस गुह्यतर ज्ञानकी भलीभाँति आलोचनाकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोपनीय मेरा परम वाक्य पुनः श्रवण करो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, अतएव ऐसा जानकर तुम्हारे हितके लिए कहूँगा॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

तुम मुझे चित्त समर्पण करो, मेरे नाम-रूप लीला आदिके श्रवण-कीर्तन आदि परायण होकर मेरे भक्त होओ, मेरी पूजा करनेवाला होओ और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे।

मैं तुम्हें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो॥६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

वर्ण, आश्रम आदि समस्त धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

इस गीताशास्त्रको तुम कभी भी असंयमित, अभक्त, सेवाविहीन और मुझसे द्वेष करनेवालेको नहीं बताना॥६७॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

जो परमगुह्य इस गीताशास्त्रका उपदेश मेरे भक्तोंको देंगे, वे मेरे प्रति पराभक्तिकर संशयशून्य होकर मुझे ही प्राप्त होंगे॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

मनुष्योंमें गीताकी व्याख्या करनेवालेकी अपेक्षा और कोई मेरा प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है और समस्त जगत्में उनकी अपेक्षा अधिक प्रियतर और कोई नहीं होगा॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

और जो व्यक्ति हम दोनोंके इस धर्म समन्वित संलापका अध्ययन करेंगे, उनके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा अभिप्राय है॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

जो श्रद्धावान् और द्वेषरहित व्यक्ति इसका श्रवण भी करते हैं, वे पापमुक्त होकर पुण्य कर्मियोंको प्राप्त होनेवाले शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥७२॥

हे पार्थ! हे धनञ्जय! क्या यह गीताशास्त्र तुम्हारे द्वारा एकाग्र चित्तसे सुना गया और क्या इसे सुनकर अज्ञानजनित तुम्हारा मोह नष्ट हो गया है? ॥७२॥

अर्जुन उवाच।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुनने कहा—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने आत्मस्मृति प्राप्त की है। मेरा सन्देह दूर हो गया है तथा मैं यथाज्ञान अवस्थित हूँ। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥७३॥

सञ्जय उवाच।

इत्थहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजयने कहा—इस प्रकार मैंने महात्मा वासुदेव तथा पार्थके बीच हुए इस अद्भुत रोमाञ्चकारी संवादको सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम्।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

श्रीव्यासदेवकी कृपासे मैंने साक्षात् वर्णनकारी स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णसे इस परमगुह्य योगको सुना ॥७५॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्! श्रीकेशव और अर्जुनके इस पुण्यमय अद्भुत संवादको बारम्बार स्मरणकर मैं बारम्बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त अद्भुत रूपका बारम्बार स्मरणकर मैं परम विस्मित हो रहा हूँ और पुनः पुनः हर्षित तथा रोमाञ्चित हो रहा हूँ ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री (राज्यलक्ष्मी), विजय, ऐश्वर्यवृद्धि और न्यायपरायणता विद्यमान है—यही मेरा निश्चित

अष्टादशोऽध्यायः

मत है ॥७८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'मोक्षसंन्यासयोगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादश अध्याय समाप्त ।